

जिन खोजा तिन पाइयाँ

गोयलीय

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

जिन खोजा तिन पाइयाँ पर लोकमत

नव भारत टाइम्स, दिल्ली

जिन खोजा तिन पाइयांको यदि हिन्दीका हितोपदेश कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। वही अनुभव, वही ज्ञान, वही विवेक।

हिन्दुस्तान, दिल्ली

अनुभवी लेखकने जीवनमें सारभूत वह सब जो देखा, सुना, पढ़ा और समझा प्रस्तुत ग्रन्थमें सरल सुबोध शैलीमें सँजोकर रख दिया है।

आज, बनारस

पुस्तकमें यों तो सभी रस लेंगे, पर छात्रों एवं युवक-युवतियोंके जीवन-निर्माणमें यह विशेष सहायक सिद्ध होगी।

विशाल भारत, कलकत्ता

प्रस्तुत पुस्तकमें जीवन-निर्माण एवं उत्साह, प्रेरणा तथा शक्ति प्रदान करने वाली १०२ लघु कथाएँ हैं। इनका स्वरूप लघु है पर ज्ञान गुम्फनकी दृष्टिसे सागर जैसी प्रौढ़ता विशालता तथा विस्तार है।

युग-चेतना, लखनऊ

समस्त पुस्तक अत्यन्त उपयोगी और पठितव्य है। जीवन-पथके अन्वेषी नौनिहालों की आँखोंको आँजनेके लिए इनमें जीवनका काजल भी है और अँधियारेको चमकानेकी जोत भी।

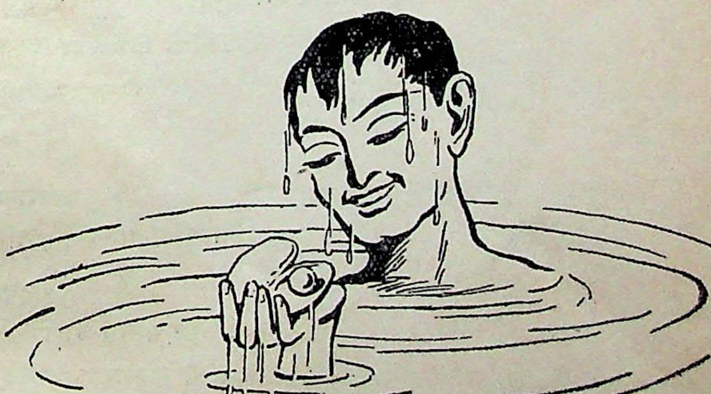
आर्यावर्त, पटना

इसमें ऐसी महत्त्वपूर्ण उपदेशप्रद कहानियाँ हैं कि उन्हें जीवनमें उतारने पर मनुष्य मनुष्य रहकर देवता बन सकता है।

जिन खोजा तिन पाइयाँ

•

अयोध्याप्रसाद गोयलीय



ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थाङ्क–४३

ग्रन्थमाला सम्पादक-नियामक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

JIN KHOJA TIN PAIYAN
[Short Stories]
AYODHYA PRASAD GOYALIYA

Bharateeya Gyanpeeth Publication
Third Edition 1963
Price Rs. 2.50

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ काशी

मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय वाराणसी
तृतीय संस्करण १९६३
मूल्य ढाई रुपये

सारभूत वह सब जो—
देखा
सुना
पढ़ा
समझा

•

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

प्रिय श्रीकान्त,
अपनी यह अनुभव-निधि
तुम्हें स्नेह-दुलारपूर्वक सौंप रहा हूँ।
जीवन-पथमें बहुत काम आयेगी,
इसे सँभालकर रखना बेटे!

विषय-सूची

जो देखा

जो सुना

जिन खोजा तिन पाइयाँ

जो समझा

आमुख

श्री गोयलीयजीकी क़लमने अपनी जादूगरीसे हिन्दी-पाठकोंको मोह रखा है। 'शेरो-शाइरी' और 'शेरो-सुख़न' उनकी ऐसी कृतियाँ हैं जो साहित्यमें सदा स्मरणीय रहेंगी। दो वर्ष पूर्व जब उनकी पुस्तक 'गहरे पानी पैठ' प्रकाशित हुई तो साधारण पाठक और असाधारण आलोचक सभी उसकी लोकप्रिय विषय-वस्तु और रोचक शैलीसे प्रभावित हुए। चुटीली कहानियाँ, अद्भुत घटनाएँ, मज़ेदार चुटकुले, दिलचस्प लतीफ़े, गहरे अनुभव, पढ़े-सुने क़िस्से सभी कुछ इस ढंगसे लिखे गये हैं कि पाठकोंको ज्ञान, प्रेरणा और मनोरंजन एक जगह एक साथ मिल जाता है।

गोयलीयजीकी यह नयी कृति 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' भी उतनी ही ज्ञानवर्द्धक, प्रेरक और रोचक है, जितनी 'गहरे पानी पैठ'। बल्कि इसमें शैलीका निखार कुछ अधिक ही है। इसे बालक तो चावसे पढ़ ही सकते हैं, युवकोंको भी इससे प्रेरणा और दृष्टि मिलेगी। बुज़ुर्गोंको इसमें उनके अपने अनुभवोंके प्रत्यावर्तन और प्रतिध्वनिकी प्रतीति होगी। चूँकि 'जिन खोजा तिन पाइयाँ'में केवल वही है जो लेखकने स्वयं देखा है, दूसरोंसे सुना हैं, पुस्तकोंमें पढ़ा है या बुद्धिसे समझा है, इसलिए इसमें बहुत कुछ ऐसा होना चाहिए जो आपने भी देखा-सुना या पढ़ा-गुना हो। पर देखने-देखनेमें, सुनने-सुननेमें और पढ़ने-पढ़नेमें अन्तर है। अपने-अपने दृष्टिकोणसे वस्तुको समझनेमें तो अन्तर होना ही हुआ।

हम-आप भी रात-दिन रेलमें सफ़र करते हैं, पर हममें-से कितने ऐसे हैं, जिन्हें सन्तोषी थानेदार, त्यागी, भिखारी, विनयशील संन्यासी, पैसेको हाथ न लगानेवाला पानीपाँड़े और दो दिन भूखे रहकर भी क़र्ज़के पैसोंको

बिना बरते लौटानेवाला शानदार चपरासी सहयात्रीके रूपमें मिलते हैं। ऐसे व्यक्ति जो अभावोंमें रहकर मुस्कराते हैं और दूसरोंकी अयाचित 'कृपा'को भी अपनी मुफ़लिसिकी शानसे 'याचना'- सा बना देते हैं—जिनको कुछ दे सकनेमें दाता अपनेको उपकृत समझे ! यह बात नहीं कि गोयलीयजीको गिरहकट या उजलेपोश बदमाश नहीं मिलते — बहुत मिलते हैं। उनसे उचक्कों और गिरहकटोंके क़िस्से सुनिए। उनसे सुनिए कि कैसे दिन-दहाड़े उनके देखते-देखते एक उचक्का यह कहकर बिस्तर-ट्रंक ले उड़ा कि 'भाई साहब, गाड़ी आनेमें देर है; इजाजत दें तो बीवी-बच्चोंको आपके ट्रंक-बिस्तरेपर बिठा दूँ।' किस तरह एक 'सज्जन' बातों-बातोंमें अपना आगरे-का पता बता चुकनेके बाद पार्सलकी रसीद भरनेके लिए पार्करपेन माँगकर सामने लिखते-लिखते चम्पत हो गये और उनकी दो रुपयेकी खाली पेटी लिये-लिये गोयलीयजी कुली बने घूमते रहे पर किसी रेलवे अधिकारीने टूटी खाली पेटीको सँभालकर रखनेकी कृपा न दिखायी। इलाहाबादके एक होटलमें हम लोग ठहरे तो होटलके मैनेजर गोयलीयजीके 'दोस्त' बन गये। एक रोज शामतक मैनेजर न लौटे तो बैराने शुबा डाल दिया कि कहीं मैनेजर किसी एक्सीडेण्टकी चपेटमें न आ गये हों। अब गोयलीयजी जैसेके तैसे उनकी तलाशमें निकल पड़े। बहुत रात गये लौटनेपर पता चला कि वास्तवमें 'एक्सीडैण्ट' यह हुआ है कि गोयलीयजीके पर्स, घड़ी और पेन मिलकर मैनेजरको भगा ले गये — क्योंकि पुलिसकी 'कोशिशों'के बावजूद भी चारोंमें-से किसीका पता न चला। दौड़-धूपमें और पुलिसके चाय-पानीमें सिर्फ़ पचास रुपये खर्च पड़े होंगे—सिर्फ़ ५० रुपयेमें ही ख़ूब मोटा फाइल गोयलीयजीकी खातिर पुलिसने बना दिया था। आप मुस्करायेंगे और कहेंगे कि २-४ क़िस्से तो इस तरहके हमारे साथ भी गुज़रे हैं और १००-५० क़िस्से आपको अपने दोस्तोंके भी याद आ जायेंगे।....फिर आप चौंकेंगे और सोचेंगे कि दुनियामें घटनाएँ तो ज़्यादातर दूसरे ही प्रकारकी घटती हैं, फिर गोयलीयजीको इस तरहके थानेदार, भिक्षुक, पानीपाँड़े

और चपरासी कहाँसे मिल जाते हैं, और कैसे मिल जाती हैं थर्ड क्लासमें फूल-सी नाज़नी जो माथेपर हाथ रखकर सोयी हुई होती है तो उपमा सूझती है :

दमे-ख़ाब है दस्ते-नाज़ुक जबीं पर
किरन चाँद की गोद में सो रही है।

और जब वह हिनाई हाथके इशारेसे बुलाकर पास बिठा लेती है तो बेसाख़्ता मुँहसे निकलता है :

नाज़ुक कलाइयों में हिनाबस्त: मुट्ठियाँ
शाखों पै जैसे मुँह-बँधी कलियाँ गुलाब की

अब इस 'रोमाण्टिक सैटिंग'को गोयलीयजीकी नज़रसे देखिए :

"उसका रंग-रूप यूँ समझिए कि जैसे अंगूरके रसमें थोड़ा सिन्दूर घोल दिया हो। जवानीकी चौखटपर पाँव रखे उसे विलम्ब नहीं हुआ था। फिर भी सुबह उठकर देखा तो लोग उसे ऐसे निहार रहे थे, जैसे अपनी परवान चढ़ती बहन-बेटीको देख रहे हों। उसके रोम-रोममें सौन्दर्य झाँक रहा था, पर मादकताका अभाव था। उसे सभी देख रहे थे, पर घूर नहीं सकते थे।"

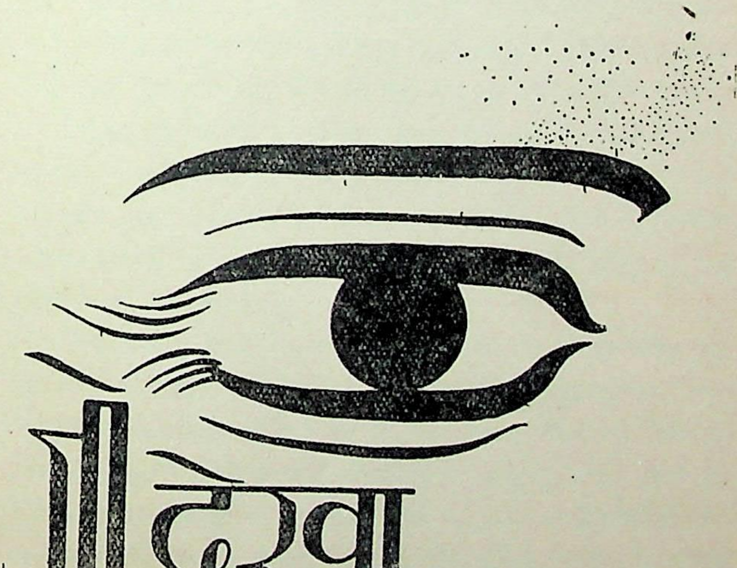
ग़र्ज़ ये कि गोयलीयजीके देखने-सुनने और अनुभव करनेमें और हममें-से बहुतोंके देखने-सुननेमें सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ हमारे साथ घटनाएँ घटती हैं, हमसे आकर टकराती हैं, वहाँ गोयलीयजी स्वयं व्यक्ति-योंसे और परिस्थितियोंसे जाकर टकराते हैं और घटनाएँ बनाते हैं या उन्हें अनावृत करते हैं। हम सफ़र करते हैं तो हम किसीको नहीं खोजते। हाँ, चोर-उचक्के और गिरहकट ही हमें खोज लेते हैं। जब कि गोयलीयजी भरनज़र सबको और सब कुछको देखते हैं, खोजते हैं। यह किताब इसी तरहकी खोजोंका ख़ज़ाना है। इस खोजके वर्णनका विषय प्रधानत: ऐसी घटनाएँ हैं, जिनमें मानवता, शिष्टता, विवेक, सेवा, सन्तोष आदिका प्राञ्जल रूप सामने आया है।

इस तरह, गोयलीयजीकी नज़र अपनी है, और उनकी नस्र (गद्य, भाषा) भी अपनी है। वह बात कहते हैं तो चित्र खींच देते हैं, वातावरणको स्वाभाविकतासे रंग देते हैं। इस खोजकी यात्रामें हमें जितने प्रकारके पात्र और जितने प्रकारकी परिस्थितियाँ मिलती हैं; सबके अपने-अपने वातावरण, मुहावरे और ज़बानके चटखारे हमें सहज रूपमें मिलते चलते हैं। इन लघु कथाओंके पात्र आपसे हवामें बात नहीं करते। वे सब अपना नाम-धाम और ठिया-ठिकाना बताते हैं। इन पात्रोंमें जहाँ पौराणिक राम, रावण और जटायु हैं, वहाँ ऐतिहासिक राजे-महाराजे और बादशाह-वज़ीर भी हैं। जहाँ अनेक शाइर और फ़िलॉस्फ़र हैं, वहाँ बीसियों जाट, नाई, किसान, चमार और हलालखोर भी हैं। दरबारका अदब, महफ़िलका क़ायदा, बात करनेका शऊर, नानीके लतीफ़े, जाटके हथकण्डे, उस्तादके लटके सब कुछ आपको इस किताबमें मिलेगा। चाहे हम बाइबिलकी बात न समझें—"सीक एण्ड दाऊ शैल्ट फाइण्ड" (खोज और तू पायेगा) लेकिन अपने कबीर साहबकी बात दोहेमें नहीं तो सोरठेमें अवश्य समझ सकते हैं :

"गहरे पानी पैठ,
जिन खोजा तिन पाइयाँ !"

साहू जैन निलय
कलकत्ता
४ - ११ - ५५

—लक्ष्मीचन्द्र जैन
सम्पादक व नियामक
लोकोदय ग्रन्थमाला


जो देखा

जीवन-पथपर भूलते-भटकते खोते-पाते
जो देखा

हृदय-परिवर्त्तन

एक बार रेलके सफ़रमें हृदय-परिवर्त्तनसम्बन्धी प्रसंग चल निकला तो एक थानेदारने अपने जीवनकी एक घटना इस प्रकार सुनायी,

"मेरे पड़ोसमें एक भिखारी भीख माँग रहा था। पड़ोसीने दुत्कार दिया तो वह मेरे मकानसे गुज़रा। मुझे उसकी हालतपर रहम आ गया। मैंने आवाज़ देते हुए कहा, "बाबा ठहरो, खाना भेजता हूँ।"

मगर वह मेरी आवाज़को अनसुनी करके बढ़ता गया। मैंने समझा उसने सुना नहीं है। अतः नौकरको रोटी दे आनेको भेजा। मगर उसने रोटी लेनेसे इन्कार कर दिया। नौकरने आग्रह किया तो उसने जवाब दिया, "जो लोग रिश्वत लेते हैं, मैं उनके यहाँ अन्न-जल ग्रहण नहीं करता।"

नौकर उसे गालियाँ बकता चला आया और मुझे भी उसके वे जुमले सुनाये। मैं तो सुनकर कट-सा गया। थानेदारकी कोई इस तरह उपेक्षा करे और वह भी दर-दरका भिखारी। मन आत्मग्लानि और क्षोभसे भर-सा गया। रह-रहकर कभी अपनेपर, कभी नौकरपर और कभी उस भिखारीपर, ताव आने लगा।

ऐसे गधेको गुलक़न्द दिखाया ही क्यों जाये, जो उसे देखकर 'आँख फोड़ दी, आँख फोड़ दी' चिल्ला पड़े। क्या ज़रूरत थी धन्नासेठ बननेकी, और अगर मुझसे ग़लती हो भी गयी थी तो यह कम्बख्त नौकर उसे रोटी देने चला क्यों गया? किसी बहाने काममें लग जाता, बात आयी-गयी हो जाती, और चला भी गया था, तो जो उस दीवानेने कहा, उसे मुझसे कहनेकी क्या ज़रूरत थी? और उस मँगतेकी शान तो देखो भीखके टूक और बाजारमें डकार।

इसी रिश्वतकी बदौलत पत्नी बलाएँ लेती है, साहबज़ादे नवाब बने फिरते हैं, यारोंका जमघट लगा रहता है, बिरादरी और रिश्तेदारियोंमें आव-भगत होती है। रिश्वत न लूँ तो कोई कौड़ीके तीन-तीन भी न पूछे, जो वेतन मिलता है, उससे तो पान-सुपारीका ख़र्च भी न चले। रिश्वत छोड़ दूँ तो फिर बीवी-बच्चोंके गुलछर्रे, ऑफ़िसर्सकी डालियाँ, बिरादरीके चन्दे, रिश्तेदारोंके लेन-देन सब किस बिरतेपर चल सकेंगे?

दिलमें कई रोज़ तक उथल-पुथल मची रही। कभी रिश्वतखोरीके गुनाह आँखोंके सामने फिरने लगते, कभी वह भिखारी अँगूठा दिखाता हुआ-सा नज़र पड़ता और कभी बीवी-बच्चोंकी मासूम शक्लें रोती-सी दिखायी देतीं।

न जाने एक रोज़ क्या हुआ, मैं रिश्वत न लेनेकी क़सम खा बैठा। अपने-पराये सभी धीरे-धीरे दुश्मन बनते गये। ऑफ़िसर्सको नज़रो-नियाज़ न पहुँचा सका, इसीलिए तरक़्क़ी भी बन्द हो गयी। दिल कुछ दिनों तो बेहद घबराया, मगर आत्माको न जाने कैसे बल मिलता ही गया और इष्ट-मित्रोंके समझानेके बावजूद भी अपने निश्चयपर अटल बना रहा। फिर तो वह आत्मसुख मालूम होने लगा, जिसके समक्ष सात बादशाहत भी हेच हैं।

एक वर्षके बाद फ़क़ीरने दरवाज़ेपर सदा लगायी। जाकर देखा तो वही भिखारी था। मुझे देखते ही बोला, "दाता, रोटी दे। बहुत भूखा हूँ।"

मैंने कहा, "हम तो रिश्वत लेते हैं बाबा, हमारे यहाँ अन्न-जल तुम कैसे ग्रहण करोगे?"

वह हँसकर बोला, "तुम रिश्वत नहीं लेते देवता, मैं आज तुम्हारा नमक खाकर अपने शरीरको पवित्र करूँगा। तुम्हारे-जैसे सन्तोषी जीवकी चरण-रज लगानेसे ही मेरी मुक्ति होगी…"

मैंने झुककर उस दिव्य द्रष्टाके पाँव पकड़ लिये।"

उक्त घटना सुनकर मैं खो-सा गया, फिर जी न चाहा कि किसीसे बात करूँ। इस भ्रष्टाचारके युगमें और वह भी ऐसे भ्रष्ट महकमेमें ऐसे सन्तोषी मनुष्य मौजूद हैं। मन श्रद्धासे भर गया[1]।

४ सितम्बर १९५१ ई०

हमसे छेड़-छाड़ ठीक नहीं

मेरा डेढ़ वर्षका बच्चा हर्षवर्द्धन एकाएक ज़ोरसे चीख उठा और बदहवास रोता हुआ मेरे पास आया तो उसकी उँगलीमें चींटा चिपटा हुआ था। मेरे छुड़ानेपर वह मरकर ही उँगलीसे अलग हुआ और मरते-मरते भी उँगलीसे रक्तकी धार बहा गया।

बच्चा तो थोड़ी देर सुबककर खेलने लगा, पर मैं अपनेमें खो गया। सोचा, कायर मनुष्योंसे तो यह जाँबाज़ चींटा ही लाख दर्जे श्रेष्ठ है। जिसने बच्चेके हृदयपर यह अंकित कर दिया कि बच्चू हमसे छेड़-छाड़ ठीक नहीं, और अब वह भूलकर भी उन्हें नहीं छेड़ता।

१ दिसम्बर १९४६ ई०

१. इस अवसरपर जो घटनाएँ आपबीती स्मरण हो आयी हैं, उन्हें आगेके पृष्ठोंमें 'सन्तोषी भिक्षुक', 'अकिञ्चन या चक्रवर्ती', 'शाने-मुफ़लिसी', 'नादिहन्द', 'सहृदयताका मूल्य' शीर्षकसे दिया गया है।

सन्तोषी भिक्षुक

सन् १९३३ या ३४ की वीर-जयन्तीके अवसरपर मुझे भाषण देनेके लिए हाँसी (हिसार) जाना पड़ा। वहाँ एक दूकानपर बैठे हुए हम आठ-दस आदमी गप-शप कर रहे थे कि दिनके ग्यारह-बारह बजेके क़रीब गेरुआ-वस्त्रधारी दो युवक भिक्षुक सामनेसे गुज़रे। उनकी पीठपर पुस्तकोंके बड़े-बड़े बण्डल देखकर कौतूहलवश मैंने बुला लिया। वे चुपचाप दूकानमें आकर खड़े हो गये तो मैंने व्यंग्यसे पूछा,

"कहिए यह पीठपर पुस्तारा लदा हुआ है या कुछ और ?"

"पुस्तकें ही हैं।"

"कौन-सी पुस्तकें हैं ?"

"वेद, उपनिषद्, गीता आदि।"

"समझ भी लेते हो या यूँ ही लादे फिरते हो ?"

"लादना ही है, इतनी बुद्धि कहाँ कि हृदयंगम कर सकें। दो-चार अक्षर जाने-अनजाने मस्तिष्कमें प्रवेश करते भी हैं, तो वे जीवनमें न उतरकर वहीं चक्कर लगाते रहते हैं। पुस्तकें ही क्या, हम तो अपने जीवनको भी गधेके समान ढोते फिरते हैं।"

मेरे व्यंग्यका उत्तर उन्होंने इतने सरल और मधुर शब्दोंमें दिया कि मैं झेंप-सा गया। मैंने फिर एक-दो चोट की, परन्तु उनपर क्या असर होता ? कभी वे खिलखिलाकर हँस पड़ते और कभी इस तरह चुप हो जाते कि मैं स्वयं पराजयकी ग्लानि-सी महसूस करने लगता। जब मेरे

सब वार खाली गये तो मैंने वह शक्ति भी फेंक दी, जिसके आगे अच्छे-अच्छे मूर्च्छित हो जाते हैं ! यानी अर्थ-लाभकी शक्ति !

"महाराज, कुछ खाओगे ?"

"आप चिन्ता न करें ।"

हाँसीके पेड़े मशहूर हैं । उन दिनों एक रुपयेके दो सेरके क़रीब आये । मैं उन्हें देने लगा तो बोले,

"प्रभो, पहले आप और आपके साथी पायें, फिर हमें भी उसमें-से परसादी दें ।"

तक़रीबन चार-चार पेड़े सबके हिस्सेमें आये । हिस्सेके अनुसार ही भिक्षुकोंने लिये । जब सब खा चुके तो वे परस्पर कुछ संकेत-सा करके मुस्कराये । आग्रह करनेपर बताया, "शहरमें प्रवेश करते हुए एकने कहा, 'आज काफ़ी विलम्ब हो गया है, शायद ही भिक्षा मिले ।' दूसरेने जवाब दिया, 'इसकी चिन्ता न करो, भोजन भाग्यमें होगा तो कोई-न-कोई दयालु प्रतीक्षा कर ही रहा होगा ।' और दाता, पाँच मिनिट बाद ही आपके दर्शन हुए ।"

मैंने कहा, "महाराज, सुबहसे निराहार थे तो आपने पेड़े बँटवा क्यों दिये ? इन तीन-चार पेड़ोंसे क्या तृप्ति होगी ? ख़ैर, कोई बात नहीं, मैं भोजनका प्रबन्ध किये देता हूँ ।"

"नहीं दाता, अब हम कल भोजन करेंगे, आज कुछ और नहीं लेंगे। दिनमें एक बार जो भी मिल जाये, उसीको लेकर आनन्द होता है ।"

मुझे काफ़ी पछतावा हुआ कि इतने थके-मांदोंका चार-चार पेड़ोंसे क्या बनेगा ? पहले ही भरपेट भोजन क्यों न करा दिया ? थोड़ा-सा भोजन लेनेका मैंने फिर अनुरोध किया, किन्तु वे मुस्कराते हुए इस तरह अचल बने रहे कि मैं और कुछ भी न खिला सका ।

जब वे चलने लगे तो मैंने कहा, "महाराज, कभी दिल्लीकी तरफ़ आना बने तो, ग़रीबकी कुटियापर भी पधारें।"

क़रीब दो-तीन वर्षके बाद उनमें-से एक साधु सन्ध्याके समय एकाएक घरपर आये। पूछनेपर मालूम हुआ कि दूसरे भिक्षुका स्वर्गवास हो गया है, और वे केवल अपने वादेको पूरा करनेके लिए अलीगढ़से चलकर मेरे लिए पधारे हैं। और कल फिर उसी ओरको रम जायेंगे।

एक-दो दिन ठहरनेका आग्रह किया तो बोले, "दाता, साधु गृहस्थोंके यहाँ नहीं ठहरते। वे तो रमते राम ही शोभा पाते हैं।" मार्ग-व्यय आदि भी नहीं लिया। धूप-वर्षासे बचनेको छतरी भी स्वीकार नहीं की। भोजन किया, वह भी अल्प। आशीर्वाद देते और मुस्कराते हुए चले गये। फिर आज तक दर्शन नहीं हुए। सैंकड़ों भिक्षुक गलियोंमें रोज़ाना आते-जाते हैं, परन्तु वे दिखायी नहीं देते।

अक्तूबर १९४१ की बात है, मैं हिसारसे दिल्ली आ रहा था; क़रीब रातके बारह-एक बजे नारनौल या रिवाड़ीके स्टेशनपर गाड़ी एक घण्टेके क़रीब रुकी। गुलाबी सर्दी पड़ रही थी, प्लेटफ़ॉर्मपर एक फ़क़ीर केवल लँगोटी लगाये इधर-उधर तेज़ीसे चक्कर लगा रहा था। पागलों-जैसी हालत थी। मैंने यह हालत देखकर उसको चाय और डबलरोटी खिला देनेके लिए चायवालेको आदेश दिया तो वह बोला, "हुज़ूर, यह तो कुछ लेगा नहीं।"

"क्या बकते हो, क्यों नहीं लेगा ?"

"हुज़ूर बुरा न मानें, यह किसीसे कुछ नहीं लेता। आस-पासके गाँव-वाले और स्टेशनके मुसाफ़िर अकसर मिन्नत-समाजत करते हैं, मगर यह किसीकी बात नहीं सुनता, और इसी तरह पड़ा रहता है।"

"यह कैसे हो सकता है, नहीं खाता तो फिर जीवित कैसे रहता है ?"

"भगवान् जाने हुज़ूर, न जाने कब और कहाँ खा आता है, आज तक तो पता चला नहीं।"

मुझे विश्वास न हुआ, स्वयं उसके पास जाकर कुछ खा-पी लेनेको कहा तो, मुझे उत्तर दिये बिना ही आगे बढ़ गया। मैंने आगे बढ़कर दीनता-भरे स्वरमें फिर निवेदन किया, परन्तु वह परमहंसोंकी तरह घूमता हुआ आगे बढ़ता गया। मैं खिसियाना-सा खड़ा देखता रहा। गाड़ी चली तो औंधे मुँह अपनी सीटपर लेट गया। फिर नींद क्या आनी थी ?

४ सितम्बर १९५१ ई०

अकिञ्चन या चक्रवर्ती

सन् १९४२ के उपद्रवोंके दिनोंमें डेहरी-ऑन-सोनसे दिल्ली जाना पड़ा था। एक तो लड़ाईके दिन, दूसरे रेलवे-तोड़-फोड़-आन्दोलन। स्वर्गमें सीट रिज़र्व हो जाना सरल, परन्तु रेलवे फ़र्स्ट-सेकेण्डमें भी पाँव रखनेको स्थान मिलना असम्भव। जिन्हें जगह मिल पाती थी, प्लेटफ़ॉर्मपर रहे यात्री उनके भाग्यकी सराहना किया करते थे। रेलवे-बाबुओंको तो छोड़िए, क़ुली और पानीपाँड़े भी यात्रियोंको भेड़-बकरियोंसे अधिक तरजीह नहीं देते थे।

मुझे प्यासने जब अधमरा-सा कर दिया, तब एक स्टेशनपर पानीपाँड़े दिखाई दिया तो गिलास भर देनेको बेतहाशा आवाज़ लगायी। पानी लेनेके बाद इकन्नी दी तो लेनेसे इन्कार कर दिया। मैंने समझा शायद थोड़े समझकर नहीं लेता है, अन्य वस्तुओंकी तरह शायद स्टेशनी जलकी क़ीमत भी बढ़ गयी है। इसलिए दो इकन्नी थमाने लगा, तो वह खीजकर बोला, "साहब, पैसे किस बातके लूँ, मुझे तो नौकरी ही इस बातकी मिलती है।"

इतनेमें गाड़ी चल दी तो मैंने प्लेटफ़ॉर्मपर उसके लिए दोनों इकन्नियाँ डाल दीं। मेरी इस हरकतको देखकर उसने बड़बड़ाते हुए कहा, "वाह साहब, अच्छे रईस आये, पानीका-पानी पी गये और ईमानका-ईमान खराब कर गये।" फिर झुककर दोनों इकन्नियाँ इस तरह उठायीं मानो बच्चेकी छी-छी उठा रहा हो! जी चाहा कि उतरकर इस जीवन्मुक्तके पाँव पकड़ लूँ, मगर ट्रेन रफ़्तार पकड़ चुकी थी। फिर कई बार खोजनेका

प्रयत्न किया, परन्तु न स्टेशनका नाम याद रहा, न उसकी सूरतका ही खयाल रहा। जब पेशगी इकन्नी लेकर पानीपाँड़े पौन गिलास पानी भरकर देते हैं, तब बरबस उसकी याद आ जाती है।

४ सितम्बर १९५१ ई०

मेरे लेखोंका मूल्य

सम्भवत: १९२५ या २६ की घटना है। मेरे हाथमें एक रजिस्टर था, उसे मैं अपने एक परिचित पन्सारीको थोड़ी देरके लिए रख लेनेको कहकर किसी कामसे चला गया। आध घण्टेमें वापस आकर देखता हूँ तो रजिस्टरसे काग़ज़ फाड़-फाड़कर सौदा बाँधकर ग्राहकोंको दिया जा रहा है। मैंने घबराकर रजिस्टर उठाया तो, बूढ़े लाला सहज स्वभाव बोले, "अच्छा, यह तुम रख गये थे, मुझे खयाल ही न रहा। खैर, कोई हर्जा नहीं हुआ। कोरा काग़ज़ एक भी नहीं छुआ, सिर्फ़ लिखे-लिखे ही फाड़े हैं।"

लिखे हुए काग़ज़ोंके ज़ाया जानेका रंज तो हुआ ही, मगर उनके भोलेपनने वह मज़ा दिया कि कुछ न पूछिए।

मार्च १९५२ ई०

शाने-मुफ़लिसी

दिसम्बर १९४१ ई०की बात है, हम चार-पाँच साथी मद्राससे दिल्ली जा रहे थे। मद्रासी भोजनके अभ्यस्त न होनेके कारण क़रीब चौबीस घण्टे निराहार रहकर भूखका लुत्फ़ उठाते रहे। लतीफ़े कहते, करवटें बदलते, अख़बार पढ़ते और निर्दिष्ट स्टेशनपर यथारुचि भोजन मिलनेकी कल्पनाके मज़े लेते हुए वर्धा या नागपुरके स्टेशनपर पहुँचे। गाड़ी अभी पूरी तरह ठहरने भी न पायी थी कि चार-पाँच थालोंका आर्डर दे दिया गया।

उन दिनों नागपुर या वर्धासे रेस्टोराँ बोगी लगती थी। जिसमें सम्भवतः बारह आनेमें शुद्ध और स्वादिष्ट भोजनका थाल मिलता था। मारवाड़ी ब्राह्मण भोजन बनाता था। तबतक न तो आजकी तरह वनस्पति घीका सर्वव्यापी प्रचार हो पाया था और न युद्ध-जनित मँहगाई विशेष बढ़ने पायी थी।

हमारे सामनेकी सीटपर एक सज्जन और बैठे हुए थे, जो हमारी तरह मद्राससे निराहार यात्रा कर रहे थे। सभ्यतावश हमने उनके लिए भी थाल मँगाना चाहा, परन्तु उन्होंने नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया और गाड़ी ठहरनेपर प्लेटफ़ॉर्मपर चले गये। मैंने समझा कि धार्मिक दृष्टिसे थाल नहीं मँगवाया है और प्लेटफ़ॉर्मपर अपनी रुचिकी मिठाई-पूरी आदि खाने गये हैं।

खाना खानेके बाद हाथ-मुँह धोनेको मैं जो नीचे उतरा तो वे यूँ ही प्लेटफ़ॉर्मपर घूमते हुए नज़र आये। मैं पास जाकर बोला, "अरे साहब, आप यह क्या ज़ुल्म कर रहे हैं, न आपने थाल मँगाने दिया, न आपने अभी

तक स्टेशनपर ही कुछ खाया। जल्दीसे खा-पी लीजिए। ट्रेन छूटनेमें विलम्ब नहीं है।"

"मेरी तबीयत कुछ ठीक नहीं है, मैं कुछ भी नहीं लूँगा।"

"आप भी खूब हैं। तबीयत क्या खराब है? भोजन न करनेसे और भी खराब हो जायेगी। चौबीस घण्टेका अभी और सफ़र करना है। भोजन न करना चाहें तो दूध-फल, लेमन आदि जो मिज़ाज चाहे ले लीजिए।"

मुझे भोजनके लिए ब-ज़िद देखकर वे सकुचाते हुऐ बोले, "आपसे अब क्या छिपाऊँ। मैं आपके बराबर बैठने योग्य नहीं। इन अच्छे कपड़ोंसे आप मुझे भी कुलीन और शिक्षित समझ रहे हैं। लेकिन मैं तो रेलवेके फ़लाँ ऑफ़िसरका चपरासी हूँ। छुट्टी जाते हुए वे मुझे दिल्लीसे मद्रास तक ले गये थे। मद्रास पहुँचते ही उनकी ट्रेन जा रही थी, किसी तरह उनको सवार कराया। जल्दीमें अपना बटुआ भी उनके बक्ससे न निकाल पाया कि ट्रेन छूट गयी। शुक्र है कि मेरा रेलवे-पास मेरे पास था। वर्ना दिल्ली पहुँचना मुश्किल हो जाता।"

मैंने स्नेहपूर्वक कहा, "भई, यह तुमने व्यर्थका तकल्लुफ़ किया। सफ़र जब एक साथ कर रहे हैं, तब कौन छोटा, कौन बड़ा और तुमने हमको ही कैसे कुलीन और शिक्षित समझ लिया? मद्राससे साथ आ रहे हो। हम खाना खा लें और तुम अड़तालीस घण्टे भूखे रहो, यह तो हमपर जुल्म है। तुम सीधे रेस्टोराँ बोगीमें चले जाओ और मन-पसन्दका भोजन कर आओ। अब अपने ही डिब्बेमें थाल मँगानेका समय नहीं रहा है।"

यह कहकर मैंने बहुत आजिज़ीके साथ एक रुपया उसकी जेबमें डाल दिया और कहा कि मेरे सिवा इसका आभास तक दूसरोंको न होने पायेगा। पहले तो उसने काफ़ी हील-हुज्जत की, परन्तु मेरे अनुरोधपर वह चुप हो गया।

मैं अपने डिब्बेमें आ गया और आश्वस्त हो गया कि वह भोजन करने

बोगीमें चला गया है। मुझे बेहद आत्म-सन्तोष हुआ कि एक स्वाभिमानी-को बा-इज़्ज़त भोजन करा सकनेमें सफल हुआ। अगले स्टेशनपर वह भी डिब्बेमें आ गया और हम सबने घुल-मिलकर दिल्ली तक आरामसे सफ़र किया।

दिल्ली प्लेटफ़ॉर्मपर उतरकर हम जब बाहर चलनेको उद्यत हुए तो वह चुपचाप मेरे पास आया और मेरी जेबमें रुपया डालकर मुझे इस तरह देखने लगा कि गोया उसकी मुफ़लिसीकी आबरू मेरे हाथमें है। मैं तनिक भी कुछ कहूँगा तो उसकी निधि चौड़ेमें लुट जायेगी। मैं अब भला उससे क्या कहता। मन-ही-मनमें खीज उठा। कम्बख्तने अपनी तनिक-सी आन-बानके पीछे सफ़रका समस्त आनन्द चौपट कर दिया। उसकी तरफ़ मैंने देखा भी नहीं और क़ुलीपर सामान उठवाकर हम लोग बाहर आ गये। ताँगेमें बैठनेपर क़ुलीको वही रुपया थमा दिया जो चपरासीने जेबमें डाल दिया था।

क़ुलीने पुन: वह रुपया मुझे वापस दिया तो मुझे वहम हुआ कि रुपया खोटा है। अत: घबराकर मैंने उस रुपयेको देखा कि कहीं मैंने उस चपरासी-को खोटा रुपया तो नहीं दे दिया था। शायद नहीं चलनेकी वजहसे ही उसने वापस कर दिया होगा। भला वह ग़रीब भी अपने मनमें क्या सोचता होगा। रुपया देखा तो खराब न था। लौटानेका कारण पूछा तो क़ुली बोला, "हुज़ूर, मेरे पास वापस देनेको रेज़गारी नहीं है।" वह इतना कहने भी न पाया था कि न जाने मुझे क्या हुआ? तावमें भरकर बोला, "बड़े अफ़लातून बनते हो। रेज़गारी नहीं है। किस कम्बख्तने तुमसे बाक़ी देनेको कहा था? अहमक़ कहींके। यूँ भूखे मरते हैं, मगर जब दो, तब लेते नहीं। क्या खूब! भीखके टूक और बाज़ारमें डकार।"

रुपया उसके हाथमें देनेके बजाय मैंने ज़मीनपर फेंक दिया और ताँगेवालेको बढ़नेका इशारा किया। रुपया उठाते हुए क़ुलीने सलाम किया और आजिज़ीसे बोला,

"हुज़ूरकी शानमें गुलामने तो एक लफ़्ज़ भी बेअदबीका नहीं कहा…".

मुझे फिर तैश आ गया। ताँगा चल रहा था और मैं उसे झाड़ रहा था, "तुम्हारी हैसियत क्या है, जो कुछ कहोगे ? दो कौड़ीका आदमी, कहता है कि मैंने तो कुछ भी नहीं कहा। समझ क्या रखा है अपनेको ?"

क़ुली नजरोंसे ओझल हुआ तो ताँगेवालेसे उलझनेको जी चाहा। मगर कम्बख़्तने ऐसा मौक़ा ही न दिया। साथियोंने घर आकर पूछा, "आज तुम्हें यह एकाएक हो क्या गया है ?" अब भला बताइए, मैं उन भले मानुषोंको कैसे बताऊँ कि एक मामूली आदमीने अपनी शाने-मुफ़लिसीसे मेरी शाने-हातिमताई चूर-चूर कर दी है और आप पूछते हैं कि मुझे हो क्या गया है ? बक़ौल 'ग़ालिब',

कोई यह बतलाये हम बतलायें क्या ?

२ जुलाई १९५४ ई०

नादिहन्द

सन् १९२४की सर्दियोंकी बात है, दो-तीन माहसे माँ सख्त बीमार थी। डॉक्टरोंका कहना था कि दवाके बजाय दुआ और टहलसे आराम हो तो हो। उन दिनों जीविकोपार्जनके लिए साड़ियाँ काढ़नेकी मशीन लगा रखी थी। दो-तीन माह दिन-रात परिचर्यामें लगे रहनेके कारण रोज़गार चौपट हो गया था। आमदनीके सभी स्रोत सूख चुके थे। जो थोड़ी-बहुत जमापूँजी थी, डॉक्टर-वैद्योंकी नज़र हो चुकी थी। धीरे-धीरे नौबत यहाँतक पहुँच गयी कि एक रोज पासमें फूटी कौड़ी न रही। दवा तो दरकिनार, दूध और फल भी कैसे लाये जायें, कुछ सूझ ही न पड़ता था।

चुपचाप बाहर बरामदेमें गरदन लटकाये बैठा था। माँके पास जानेका साहस ही न होता था कि न जाने कब दूध या फलके रसके लिए संकेत कर बैठे। मुझे अपनी इस असहाय स्थितिपर अकथनीय आत्म-ग्लानि हो रही थी। मन-ही-मनमें छटपटा रहा था। किसीको पता न चल जाये, यह आशंका और भी खाये जा रही थी। एक अनिर्वचनीय घुटन-सी हो रही थी कि इतनेमें ही किसीने बाहरसे आवाज़ दी। दरवाज़ा खोला तो एक परिचित मुसलमान बुड्ढा खड़ा था। तीन-चार वर्ष पूर्व कोई बहुत ज़रूरी आवश्यकता बताकर वह पन्द्रह रुपये उधार ले गया था। बादमें मालूम हुआ कि वह तो बहुत बड़ा नादिहन्द है। लेके देना और कमाके खाना, वह बहुत बड़ा गुनाह समझता है। एकाध बार साहस बटोरकर तक़ाज़ा किया भी तो, स्वयं मुझे ही शर्म-सी मालूम दी। लाचार सब्र कर लिया।

उसने मुझे देखते ही सोलह रुपये हाथपर रख दिये। मैंने कहा, "रुपये तो आपने पन्द्रह ही लिये थे। यह एक रुपया ज़्यादे कैसा ?"

वह बोला, "नहीं, मैंने सोलह लिये थे।"

मैंने अपनी डायरी देखी तो पन्द्रह रुपये ही उसके नाम थे। अतः उसका एक रुपया लौटाते हुए कहा, "डायरीमें भी पन्द्रह ही लिखे हैं, यह अपना रुपया वापस लो।"

वह सोलह देनेकी ही ज़िद करता रहा और कहता रहा कि आपने सोलह ही दिये थे। मगर जब मैं किसी तरह भी उसका एक रुपया बढ़ती लेनेको प्रस्तुत नहीं हुआ तो बोला, "अच्छा जी, यह हमींसे चालबाज़ी ?"

मुझे उसके इस भोलेपनपर हँसी आ गयी। मैंने सहास्य कहा, "चालबाज़ी तुम कर रहे हो या मैं ? अपना रुपया वापस लेते हो या फेंकूँ इसे नालीमें ?"

उसने रुपयेके लिए हाथ बढ़ाते हुए कहा, "अच्छा, जैसी तेरी मर्ज़ी। अगर कम लिया तो ख़ुदाके सामने जवाबदेह होगा ?"

अब मुझे भी ताव आ गया। उसके सब रुपये ज़मीनपर फेंककर बोला, "बड़े ख़ुदावाले बनते हो। हमेशाके नादिहन्द, एक रुपया बढ़ती देकर ख़ुदाके सामने सुर्ख़रू होना चाहते हो! चलो हटो यहांसे। हमारा ही रुपया और हमीं जवाबदेह होंगे ? क्या ख़ूब ?"

चुपचाप रुपये बटोरकर पन्द्रह रुपये मेरे हाथमें रखते हुए वह बोला, "अच्छा बाबा, ख़फ़ा क्यों होता है। हमीं बेईमान सही।"

रुपये लेकर मैं जाने लगा तो वह बोला, "ज़ालिम, तेरी इस अदाने ही तो मार डाला। न कभी तक़ाज़ा किया न कभी उलाहना ही दिया। तीन-चार वर्षमें देने आया तो उतने ही लिये, ज़्यादा न लिये।"

मुझे फिर हँसी आ गयी तो वह बोला, "हँसता क्या है बेटे ? ख़ुदा

जानता है साठ वर्षकी उम्रमें आज पहली बार लेकर तुझे दे रहा हूँ। न जाने किस ताक़तने तेरे रुपये लौटा देनेको मजबूर कर दिया। खाना-पीना सब हराम मालूम होने लगा था·····।'' और न जाने वह क्या-क्या कहता रहा, मैं तो दूध-फल लानेके लिए लपक लिया। क़ारूँका ख़ज़ाना जो हाथ लग गया था उस रोज़।

२० मार्च १९५५ ई०

सहृदयताका मूल्य

इसीसे मिलती-जुलती एक वर्षके बादकी घटना और स्मरण हो आयी।

एक आदमी पुलबंगशके सरकारी हस्पतालमें कम्पाउण्डर था। उसकी ख़ुशपोशी और जामाज़ेबीके कारण मैं उसे डॉक्टर समझे हुए था। मैं उन दिनों खद्दरका व्यापार करता था। एक रोज़ उसने साठ रुपयेका खद्दर लिया और सौ रुपयेका नोट दिया तो संयोगकी बात मेरे पास देनेको चालीस रुपये उस वक़्त न निकले। मैंने तकल्लुफ़न कह दिया, "कोई बात नहीं, रुपये फिर आ जायेंगे, आप कपड़ा ले जाइए।" और वह धन्यवाद देते हुए सचमुच कपड़ा ले गया।

एक रोज़ प्रतीक्षा करनेके बाद जब रुपये नहीं आये तो मैंने डिस्पेन्सरी आदमी भेजा। उसने आकर रिपोर्ट दी कि वह डॉक्टर-वाक्टर कुछ भी नहीं, टैम्परेरी कम्पाउण्डर था, और तारीफ़ यह कि उसी रोज़ उसकी नौकरी भी छूट गयी।

सुनकर चिन्तित हुआ। किसी तरह उसकी रिहाइशका पता लगाया। तक़ाज़ा करनेपर सुबह-शाम, आज-कलके बहाने बतलाने लगा। दो-चार रोज़ हेरा-फेरी करनेके बाद बोला, "आप अन्दर आ जाइए, रुपये देता हूँ।"

मैं सहमते हुए अन्दर चला गया। भय यह कि अन्दर ले जाकर न जाने क्या बोहतान गले मढ़ेगा? न जाऊँ तो मुझे भयभीत समझकर हावी हो जायेगा। जो थोड़ी-बहुत रुपये मिलनेकी क्षीण आशा है, वह भी विलीन हो जायेगी।

झिझकते हुए अन्दर गया तो सहनमें एक युवा स्त्री चारपाईपर पड़ी हुई थी। वहीं मेरे लिए भी मूढ़ा बिछाकर अन्दरसे ज़ेवरका सन्दूक़ लाकर बोला, "माफ़ करना लालाजी, इधर मेरी वाइफ़को निमोनिया हो गया है, उधर मेरी नौकरी जाती रही है। बहुत परेशानीमें फँसा हुआ हूँ। आप इसमें-से कोई मुनासिब ज़ेवर ले जाइए। थोड़े दिन बाद रुपये देकर ज़ेवर छुड़ा लूँगा।"

मेरी हालत अजीब थी। जान न पहचान बड़ी बीको सलाम। अच्छे फँसे। एकाध रुपया ब-मुश्किल नफ़ा मिलता कि मूल ही ग़ायब हो रहा है। मूलके लालचमें हाथी गँवा देनेकी बात थी। पत्नी बीमार, नौकरी छुटी हुई, यह रुपये कैसे दे सकेगा? मगर ऐसी स्थितिमें ज़ेवर लेना भी तो कफ़न-खसोट-जैसा होगा। एक क्षणमें ही निश्चय करके बोला, "आप ज़ेवर रखिए। न मालूम आपको इसकी कब ज़रूरत पड़ जाये। जब आपके पास रुपये हों, तब भिजवा दीजिए। मैं ज़ेवर नहीं ले जा सकूँगा।"

वह कृतज्ञ स्वरमें बोला, "लालाजी, तीसरे रोज़ मेरा भाई आयेगा। आप दस-ग्यारह बजे आ जाइए। आप विश्वास रखिए, आपके रुपये देकर ही हम जायेंगे।"

बहता हुआ खरबूजा मैं तो कृष्णार्पण कर ही चुका था। फिर भी उस आदमीकी साख देखनेको तीसरे रोज दस बजे जाकर आवाज़ दी। वह मुझे फिर अन्दर ले गया। देखा तो न वहाँ चारपाई थी, न घरमें कोई और सामान। जाते ही उसने दस-दसके छह नोट मुझे दिये और बोला, "लालाजी, आप ही का इन्तज़ार कर रहा था। बीवी-बच्चोंको मय सामानके रातको ही चुपके-से भाई साहबके साथ घर भेज दिया है, ताकि और तक़ाज़गीरोंको पता न लगे। सिर्फ़ आपके लिए रुका हुआ था। एक बार तो जी चाहा कि मैं भी चल दूँ, परन्तु धिक्कारी-सी आने लगी कि जिसने बीमार पत्नीको देखकर ज़ेवर छुआ तक नहीं, उसके रुपये लेकर कैसे भागूँ?"

मैं धन्यवाद देकर चलने लगा तो बोला, "लालाजी, आप बड़े भाग्य-शाली और दूरन्देश हैं। आपने उस रोज़ ज़ेवर छू भी लिया होता तो भगवान् जाने फिर आप कहाँ होते ?"

२० मार्च १९५५ ई०

प्रेमचन्दजी दर्शक गैलरीमें

सम्भवतः १९३४–३५ के आस-पासकी मेरी चश्मदीद घटना है। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनका वार्षिक अधिवेशन दिल्लीमें हुआ था। लालक़िलेके सामने पत्थरवाले मैदानमें पण्डाल बना था। कुछ साहित्य-महारथी पधार चुके थे, शेष आ रहे थे। अधिवेशन-कार्य अभी प्रारम्भ नहीं हुआ था कि मंचपर बैठे हुए प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति शीघ्रतासे दर्शक गैलरीकी ओर लपके और वहाँ खड़े हुए मुन्शी प्रेमचन्दजी-को कौली भरकर मंचपर ले आये।

हुआ यह कि मुन्शीजी प्रवेश-टिकिट निवासस्थानपर ही भूल आये थे। उनकी शक्लो-शबाहत एवं वेश-भूषाको देखकर स्वयंसेवक उनके मुन्शी प्रेमचन्द होनेका अनुमान नहीं कर सका, और मुन्शीजी अपने मुँहसे कहते भी कैसे कि भले आदमी जिसे देखनेको इतना जन-समूह एकत्र हुआ है, मैं वही प्रेमचन्द हूँ। अगर कहते भी तो ईमानकी बात यह है कि स्वयंसेवक-को यक़ीन भी न आता। घरका सिला और हाथका धुला कुरता, मटमैली-सी धोती, अपाहिज-से जूते पहने, ऊबड़-खाबड़ मूँछोंवाले, भीड़के साथ पण्डालमें घुसनेवाले प्रेमचन्दको कौन प्रेमचन्द समझता ?

अतः मुन्शीजी मुस्कराते हुए गैलरीमें चले गये। अभी खड़े भी न हो पाये थे कि इन्द्रजीने देख लिया और वे लपककर उन्हें मंचपर लिवा ले गये।

१५ मार्च १९५५ ई०

इन्सानियत

दिल्लीके सदर-बाज़ार इलाक़ेमें म्यूनिस्पल-चुनाव बहुत खतरनाक होते हैं। दस-बीसके सिर-फूट जाना तो मामूली बात है। अमन-चैन बनाये रखनेके लिए मशीनगनें और घुड़सवार पुलिस भी घूमती है; फिर भी खून हो जाते हैं। पक्ष-विपक्षकी ओरसे पचास-साठ हज़ार रुपयोंपर पानी फिर जाना बड़ी बात नहीं। चुनावके दिनोंमें ही संघर्ष नहीं होते, उसके बाद भी दाव-पेंच चलते रहते हैं और विजयी-विजित दोनों ही अपने-अपने रियाज़ बढ़ाते रहते हैं। इन चुनावोंका घातक परिणाम यह हुआ है कि सदर-बाज़ारके निवासियोंका दैनिक जीवन विषम बन गया है, और आपसका संगठन छिन्न-भिन्न हो गया है। फिर भी एक घटना मानवोचित है।

इसी इलाक़ेके एक विजेता सदस्यके पास दूसरे शहरके कोई परिचित महाशय आये और इनसे विरोधी पक्षके सम्बन्धमें पूछा,

"क्यों साहब, आप लाला''''को जानते हैं ?"

"बहुत अच्छी तरह, फ़र्माइए क्या बात है ?"

"वे अपनी लड़कीका रिश्ता हमारे यहाँ करना चाहते हैं।"

"अवश्य लीजिए, वे हमारे यहाँके अत्यन्त सम्भ्रान्त और प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं; और उनकी कन्या तो मेरी लड़कीकी सहेली है; बड़ी सुशील और देवी-जैसा रूप !"

बारात आयी, मगर सिफ़ारिश करनेवाले दिखायी नहीं दिये। बेटे-वालेका अनुमान था कि शादीमें वही कर्त्ता-धर्त्ता होंगे। जब बिदाके वक़्त

भी न मिले तो बेटीवालेसे पूछा, "क्यों साहब, मि०....दिखाई नहीं दिये ? क्या कहीं बाहर तशरीफ़ ले गये हैं ?"

"उनके हमारे राहो-रस्म बन्द हैं।"

"हैं ?"

"जी, इलेक्शन्सकी वजहसे वे हमारे जानी दुश्मन हैं।"

"यह आपका खाम खयाल है।"

"नहीं साहब, आपको धोखा हुआ है, हम तो एक-दूसरेकी शक्लसे नालाँ हैं।"

"बेशक, आपका फ़र्माना बजा है, तब तो मुझे ज़रूर धोखा दिया गया है।"

"बात क्या है साहब, साफ़-साफ़ फ़र्माइए न ?"

"क्या साफ़-साफ़ अर्ज़ करूँ और क्या न करूँ ? अगर आपसे उनकी दुश्मनी थी, तो आपसे बदला चुकाते। मैंने उनका क्या बिगाड़ा था, जो मुझसे यह फ़रेब किया ?"

"माजरा क्या है हुज़ूर, कुछ मैं भी तो सुनूँ ?"

"अरे साहब, उन्हींके विश्वासपर तो मैंने रिश्ता लिया, लड़की तक नहीं देखी। भगवान् खैर करे,....?"

खैर, उस विश्वासमें तो अन्तर नहीं पड़ेगा, लड़की आपकी आशाके अनुरूप होगी। लेकिन मि०....इतने सहृदय और नेक इन्सान हैं, यह मुझे मालूम न था।"

सदर-बाज़ारके वोटर्सको पोलिङ् स्टेशनपर ले जानेके लिए पक्ष-विपक्षकी कारें, लारियाँ, ताँगे एक-दूसरेसे होड़ ले रहे थे कि एक कार, जिसमें स्त्रियाँ वोटर बैठी थीं, चलते-चलते खराब हो गयी। स्त्रियाँ उतरकर अनजानेमें विपक्षीकी कारमें बैठने लगीं तो ड्राइवरने झिड़क दिया।

ड्राइवरका यह बरताव हमारे एक परिचित बन्धुको नागवार गुज़रा। यद्यपि वे भी विपक्षीके प्रबल समर्थक थे, और चुनाव-स्थल तक वोटर्सको पहुँचानेके लिए ही वह कार उनके डिस्पोज़लपर थी। फिर भी महिलाओंका अपमान-सा होता देख वे तत्काल बोले,

"क्या करते हो? यह हमारे परिचित इष्ट-मित्रोंकी बहू-बेटियाँ हैं। और सबसे बड़ी बात ये है कि यह हमारी मातृजाति हैं। इनका असम्मान करना अपनी माँका अपमान करना है। इन बेचारियोंको शत्रु-मित्रकी क्या पहचान? इनके अभिभावकोंने जो आदेश दिया है, ये उसका पालन करेंगी।"

और इस नेक इन्सानने उन महिलाओंको आदरपूर्वक विरोधी पक्षके डेरेमें पहुँचा दिया।

एक बार हमारे एक मित्र सपत्नीक इण्टर क्लासमें सफ़र कर रहे थे कि नगीना स्टेशनपर पन्द्रह-बीस स्त्रियाँ उसमें घुस आयीं और उनके साथी पुरुषने उनको दूसरी गाड़ीमें जानेके लिए आदेश दिया। कारण पूछनेपर बतलाया गया कि यह डिब्बा ज़नाना बना दिया गया है। महिलाओंके सम्मानके लिए वे अवश्य उतर जाते, लेकिन आदेश कुछ इस ढंगसे दिया गया था जो मानवोचित न होकर, अपमानजनक था। जब इतनी दूरसे इस डिब्बेमें सफ़र किया जा रहा है, तब बीचमें यह परिवर्त्तन नियम-विरुद्ध था। दूसरे सम्मानका भी प्रश्न था। अतः उतरनेसे मना कर दिया गया। स्टेशन-मास्टर और हवलदार बुलाये गये तो उन्हें भी दुतकार दिया गया। इतनेमें ही उन्हें अपने एक प्रतिद्वन्द्वी आते दिखाई दिये तो तनिक घबराये-से हो गये। और सोचने लगे कि अब यह स्टेशन-मास्टरका पक्ष लेकर कहेगा कि हाँ साहब, इन्हें ज़रूर उतारिए, इनकी तो झगड़ा-फ़साद करनेकी आदत पड़ी हुई है। परन्तु उनकी आशाके विपरीत उसने स्टेशन-मास्टरको ही डाँटा और उनसे कहा, "आप हरगिज़ डिब्बेसे न उतरें, हम आपके साथ हैं।"

डिब्बेसे तो वे जब भी न उतरते, जब कि उनका प्रतिद्वन्द्वी भी विरोधी पक्षकी ओर मिल जाता, किन्तु उसकी सहृदयताने उनको पानी-पानी कर दिया।

जुलाई १९५१ ई०

भावनाके अनुरूप

मनुष्य अपनी भावनाके अनुरूप कर्म-फल भोगता है। एक ही छुरीसे डॉक्टर ऑपरेशन करता है और घातक क़ातिलाना हमला करता है। डॉक्टरके हाथसे मरीज़ मर जाता है, किन्तु अकस्मात् किसीके आ जानेसे घातक आघात भी नहीं करने पाता और लोगों-द्वारा पकड़ लिया जाता है। रोगीके मर जानेपर भी डॉक्टर निर्दोष समझा जाता है और घातकसे ज़ाहिरा आघात न होनेपर भी वह दण्डनीय होता है।

दिल्लीमें एक नाईने मुझे आप-बीती सुनायी थी, वह मानसिक चिन्ताओंमें पड़कर पागल हो गया था। उसके पीछे बच्चोंके झुण्ड रहते थे, कोई उसपर थूकता, कोई चिढ़ाता, और कोई कंकर-पत्थर मारता था। कई वर्ष तक वह इसी अवस्थामें रहा। दैवयोगसे बच्चे उसे छेड़ रहे थे कि एकने मनोरंजन-स्वरूप उसकी ओर पत्थर फेंका और वह उसके सिरमें लगा। पत्थरके आघातसे उसके सिरसे रक्त बहने लगा और वह वेदनाके कारण बेहोश हो गया। होश आनेपर उसने अपनेको और ही रूपमें देखा। उसके सिरसे गन्दा रक्त निकल गया और वह अच्छा हो गया। लेकिन वह ईंट मारनेवाला प्रकट रूपमें पागलका भला करनेपर भी दोषी हुआ, क्योंकि उसके भाव हितैषी न होकर हिंसक थे।

मई १९६३ ई०

यमराज-सहोदर

सन् १९३८ या ३९ की बात है कि हम चार-पाँच साथी सदैवकी भाँति जीतगढ़पर प्रात:कालीन सैरको जा रहे थे। साथियोंमें एकसे-एक बढ़कर ज़िन्दादिल, हाज़िरजवाब और खुशमजाक़ थे। शेरो-शाइरी, लतीफ़े, गप-शपका बेहद लुत्फ़ रहता था।

एकाएक सुमत साहब बोले, "लो भाई, हमें तो अब कास्टरायल पीना पड़ेगा।"

विमल भाई घबराकर बोले, "क्यों भाई, ख़ैर तो है ?"

सुमत साहबने सामनेकी तरफ़ संकेत करते हुए कहा, "वोह सामनेसे डॉक्टर आ रहा है, चचा-जानका दुआ-सलामी दोस्त है। हमसे भी सलाम-की तवक्क़ो रखता है। न करें तो टोक बैठता है। भई, हम तो ऐसी जब्रिया दुआ-सलामको कास्टरायल पीनेसे कम नहीं समझते।"

और वाक़ई जब वे बराबरसे गुज़रे तो सुमत साहबने उन्हें एक अदद सलाम झुकाया। बात-चीतका प्रसंग न जाने क्या चल रहा था कि डॉक्टर-को सामनेसे गुज़रते देख विमल भाई बोले, "इन डॉक्टरों-वैद्योंकी परछाई-से भी भगवान् बचाये। इनके चाटे वृक्ष हरे नहीं होते। कहते हैं एक वैद्य जब अपने गाँवमें प्रवेश करने लगे तो उन्हें गाँवसे एक शव आता हुआ दिखाई दिया। शवको देखकर वे आश्चर्यचकित होकर सोचने लगे कि यह हुआ तो हुआ कैसे ? जब कई रोज़से न मैं गाँवमें था, न मेरा भाई था। फिर यह मरा तो मरा कैसे ?" ऐसे ही लोगोंको लक्ष करके किसीने क्या खूब कहा है, "**वैद्यराज नमस्तुभ्यं यमराजसहोदर**"।

लतीफ़ा पुराना था, मगर बरमहल कुछ इस अन्दाज़से कहा गया कि सब मुस्करा उठे।

लतीफ़ा सुनकर साथी मित्र डॉ० प्रकाश बोले, "अरे साहब, मैं एक आपबीती घटना सुनाता हूँ, वह तो दैवी सहायता मिल गयी, वर्ना ज़ालिमोंने मिलकर मार ही डाला था।

"क़रीब दो साल पहलेकी बात है, कलकत्तेसे डेण्टल सर्जरी पास करके मैं आया था। ब-मुश्किल चार-पाँच माह मुझे काम करते हुए होंगे कि मन्द ज्वर-सा रहने लगा। जब चार-पाँच रोज़ तबीयत गिरी-पड़ी-सी मालूम दी तो मैं अपने फ़ैमिली डॉक्टरके यहाँ गया। उन्होंने क़रीब आध घण्टेकी परीक्षाके बाद सकुचाते हुए कहा, "मुझे कुछ टी० बी०का शुबहा है, मैं स्लिप दिये देता हूँ, आप फलाँ डॉक्टरसे एक्सरे करा लें। स्लिप लेकर एक्सरे-डॉक्टरके पास पहुँचा तो उसे भी एक्सरे-प्लेटमें टी०बी० नज़र आयी। टी०बी०का नाम सुना तो घर-भरमें घबराहट फैल गयी। इतना अच्छा स्वास्थ्य, यह नौजवानी और फिर भी टी०बी०, फिर क्या था; बिस्तरेपर पड़े रहनेका आर्डर दे दिया गया। खाना बन्द कर दिया गया। दवाएँ, रस और परहेज़, चुपचाप बिस्तरेपर पड़ा हुआ मौतकी घड़ियाँ गिनने लगा। नयी-नयी शादी हुई थी। फिर भी पत्नी मुझे सान्त्वना देती रहती, परन्तु उसे स्वयं वैधव्य नज़र आने लगा था।

उन्हीं दिनों हिसारके एक एलोपैथिक डॉक्टर अपने दाँतोंके सम्बन्धमें मुझसे परामर्श लेनेके लिए दिल्ली आये हुए थे। मुझसे तारीख, समय निश्चित करके ही वे हिसारसे दिल्ली आये थे; परन्तु कई बार प्रयत्न करनेपर भी वे मुझसे मुलाक़ात न कर सके। मुलाक़ात होती भी कैसे ? डिस्पेन्सरी मेरा जाना बन्द कर दिया गया था और घरपर भी किसीको मिलने नहीं दिया जाता था। क्योंकि घरवाले अभी इस बातको पोशीदा रखना चाहते थे। एक रोज़ वे बहुत ही ज़िद पकड़ गये तो फ़ोनपर यूँ गुफ़्तगू हुई।

"डॉक्टर जैन, आप डॉक्टर होते हुए भी एक डॉक्टरको परेशान कर रहे हैं। मुझे तीन-चार रोज़ आये हुए हो गये। कई बार प्रयत्न करने-पर भी आपका नियाज़ हासिल न हो सका। विद फ़ैमिली आया हूँ। यूँ आखिर कबतक यहाँ पड़ा रहूँ ?"

"डॉक्टर साहब, मैं खुद नादिम हूँ कि आपको बुलाकर नाहक़ परेशान किया। मगर क्या करूँ, मजबूर हूँ डॉक्टरोंने मुझे पूर्ण विश्रामकी सलाह दी है।"

"अरे भई जैन साहब, मैं भी तो एलोपैथिक डॉक्टर हूँ। अगर आप मुझे अपना पेशेण्ट नहीं बनाना चाहते तो स्वयं आप मेरे पेशेण्ट बन जाइए।"

"यह कैसे सम्भव हो सकता है ? हमारे फ़ैमिली डॉक्टर देहलीके··· मशहूर डॉक्टर हैं। वे क्या कहेंगे और घरवाले तो हरगिज़ नहीं मानेंगे ?"

"अरे भई, यह तो मज़ाककी बात थी। कौन कम्बख्त तुम्हें बीमार समझता है। अगर मेरे आनेसे घरमें झमेला होनेका अन्देशा है तो तुम किसी तरकीबसे मेरे यहाँ आ जाओ। चंगा करके घर न भेजा तो आजसे डॉक्टरी करना छोड़ दूँगा।"

न जाने साहब उसकी बातोंमें क्या कशिश थी कि मैं चुपचाप घरसे खिसक लिया। उनके यहाँ कारसे उतरा तो वे खाना खानेके लिए बैठे ही थे। मुझे भी सामने कुरसीपर बिठा लिया। खानेका थाल आया तो बोले, "आओ भई जैन साहब, पहले साथ-साथ खाना खायें। फिर निश्चिन्त होकर बात-चीत करेंगे।"

मैंने मुसकराकर जवाब दिया, "शुक्रिया, आप शौक़ फ़र्मायें।"

वे मेरा हाथ पकड़नेका प्रयत्न करते हुए बोले, "नहीं भई, तकल्लुफ़ हमारे यहाँ नहीं चलेगा। जो भी परदेशमें रूखा-सूखा मयस्सर है, सुदामा-का साग-पात समझकर खाइए।"

जब उसने बहुत ही आग्रह किया तो मैं चिढ़-सा गया और झुँझलाकर बोला, "आप कैसे डॉक्टर हैं। चार-पाँच रोज़से अन्न तक बन्द है। मुझे

टी० बी० है। फिर भी आप कढ़ो, चावल, रोटी, आलू खिलानेको ब-ज़िद हैं। क्या इसीलिए आपने मुझे बुलाया था ?"

वे तनिक आवेश-भरे स्वरमें बोले, "मि० जैन, या तो आप मुझे दीवाना समझ रहे हैं या स्वयं आपेमें नहीं हैं। जब आप जानते हैं कि मैं डॉक्टर हूँ और डॉक्टर छूत-छातका इतना अधिक खयाल रखते हैं कि अपनी सन्तानका भी लिहाज नहीं करते। तब मैं एक टी० बी० के रोगीके साथ एक ही थालीमें खाना चाह रहा हूँ, इसके मानो हैं कि मेरे दिमाग़में खलल है और मैं जान-बूझकर मौतको दावत दे रहा हूँ।"

मैं शोख़ी-भरे लहजेमें बोला, "नहीं, ऐसी तो मैं कोई बात नहीं देखता।"

वे तुरन्त बोले, "यदि आप मुझे पागल नहीं समझते हैं तो आइए, पहले मेरे साथ खाना खाइए। फिर चलकर उस उल्लूके पट्ठेके पांच जूते मारिए, जिसने आपके टी० बी० बतलायी है।"

"एक तो उसके कहनेका अन्दाज़ आकर्षक था, उसपर चार-पांच रोज़ अन्न खाये हो गये थे। मन ललचा गया। हाथ धोकर पिल पड़ा और ठाटसे भोजन किया। भोजनके बाद उसने मुझे घर नहीं आने दिया। सीधे मेरी डिस्पेन्सरीमें लाया और हँसी-खुशी उसने अपने दांत निकलवाये।"

विमल भाई बोले, "फिर क्या हुआ ?"

डॉ० जैन, "होता क्या, वह अपने हिसार चला गया और मैं अपनी डिस्पेन्सरी जाने लगा। न खाँसी, न ज़ुक़ाम, न फ़ीवर। मज़ेसे खाता-पीता हूँ और हट्टा-कट्टा बना आपके साथ रोज़ाना सैरको निकलता हूँ।"

मैंने कहा, "भई प्रकाशबाबू, तुमने फिर फ़ैमिली डॉक्टरसे कुछ नहीं कहा ?"

"हाँ, वह भी सुनो। दस-पाँच रोज़के बाद हमारे डॉक्टर साहब डिस्पेन्सरीकी तरफ़ निकल आये तो मैंने कहा, "अमाँ डॉक्टर, यह क्या

मज़ाक़ सूझा था, आपको ? बैठे-बिठाये टी० बी० डिक्लेयर कर दी थी। हम तो मर गये होते आपकी इस अदापर।"

वह मेरी पीठ ठोकता हुआ बोला, "भई, बड़े खुशक़िस्मत हो, जो दो-चार इंजेक्शनमें ही सँभल गये। वर्ना मैं क्या और मेरी बिसात क्या, जो तुम्हें मौतके चंगुलसे बचा पाता। यह तो बुजुर्गोंके पुण्य-प्रतापसे ही ईश्वरने करिश्मा दिखलाया है। मैंने तो जब सुना कि प्रकाशबाबू डिस्पेन्सरी जाने लगे हैं, तो फ़ौरन् दौड़ा हुआ मन्दिर गया और भगवान्‌के चरणोंमें लोटकर यही बार-बार कहता रहा, "प्रभो, जैसी लाज तूने मेरी अब रखी है, वैसी सदैव रखना।"

डॉक्टरकी इस ढीठतापर मैं मन मसोसकर चुप हो गया।"

२१ अगस्त १९५४ ई०

बातका शऊर

जिनके पास ख़ुदकी अक़्ल नहीं होती, वे दूसरोंकी नक़ल करते हुए कभी-कभी बहुत उपहासास्पद होते हैं। कुछ नमूने दिये जाते हैं,

"क्यों साहब, इतनी सुबह-सुबह कहाँका इरादा किया ?"

"भाई साहब, आपके साहबज़ादेका कल तिलक आयेगा। उसीके लिए कुछ ज़रूरी सामान खरीदने निकला हूँ।"

"अच्छा भई मुबारक !"

किसी बेअक़्लेने भी यह गुफ़्तगू सुन ली। मनमें कहा, "इस वाक्यका प्रयोग मैं भी करूँ तो मुझे भी मुबारकबाद मिले।" काफ़ी प्रयत्न किया, परन्तु यह सुयोग मिलकर नहीं दिया। दुर्भाग्यसे एक रोज़ उसका युवा पुत्र मर गया। बस फिर क्या था, रोते हुए उन्हीं मुबारकबाद देनेवाले सज्जनके आगेसे निकले। इनको रोता देखकर वे पूछ बैठे,

"क्यों भई ख़ैर तो है ? नसीबे-दुश्मनां कुछ सदमा पहुँचा है क्या ?"

बेअक़्ले तो इस अवसरकी ताकमें ही थे, सिर पीटते हुए बोले, "आपका बड़ा साहबज़ादा मर गया।"

"आप बहुत बेहूदे मालूम होते हैं। भला ऐसी गाली भी कोई किसीको देता है ?"

"अरे साहब, बेहूदा आप हैं या हम ? जब उन्होंने अपने लड़केको आपका साहबज़ादा कहा, तब तो ख़ूब-ख़ूब मुबारकबाद दी, और जब हमने

अपने बच्चेको आपका साहबज़ादा कहा तो बुरा मान गये। वाह साहब, आप भी खूब आदमी हैं। मीठा-मीठा हप और कड़वा-कड़वा थू।"

किसी प्रतिष्ठित व्यक्तिके पुत्रके मरनेपर पत्रोंमें छपा, "अमुकके इकलौते पुत्रकी मृत्यु हो गयी।" किसी नक़लचीको यह 'इकलौता' शब्द खूब पसन्द आया। सुयोगकी बात थोड़े ही दिनोंमें उसका बाप मर गया। उसने अपने इष्ट-मित्रोंको पिताकी मृत्युकी सूचना दी तो 'इकलौते पिता'का उपयोग करके अपने मनकी साध पूरी की।

"आपकी तारीफ़ ?"

"जी, ये मेरे बड़े साले हैं।"

(कहना चाहिए, साहबज़ादेके मामा हैं। यदि बच्चा न हो तो कहना चाहिए मेरे अत्यन्त हितैषी रिश्तेदार हैं।)

"कहिए हुज़ूर, गरमियोंकी छुट्टियोंमें कहाँ-कहाँ रहे ?"

"भाई साहब, पूरी छुट्टियाँ नैनीतालमें ही बितायीं, अलबत्ता एक सप्ताह भुआली देखनेमें भी लगाया।"

"भुआली सेनोटेरियमकी व्यवस्था कैसी है ?"

खूब है साहब, आप एक बार किसी तरह भरती हो जाइए, फिर आपका वहाँसे आनेको जी नहीं करेगा। समयपर दूध, फल, मक्खन, भोजन, दवा आपको बराबर मिलेंगे। सिनेमा, लायब्रेरी आदिका भी समुचित प्रबन्ध है। आप वहाँ रेडियो रख सकते हैं, शतरंज खेल सकते हैं....।"

"क्षमा करना वहाँ मुझे जाना नहीं है, मेरा स्वास्थ्य तो आपकी दयासे बहुत अच्छा है। मैंने तो यूँ ही पूछ लिया था।"

झेंपते हुए "मेरा मतलब यह नहीं था, मैं तो वहाँकी व्यवस्थाके बारेमें ही उदाहरण देकर बतला रहा था। आप नाहक़ बुरा मान गये।"

"अरे साहब, बुरा माननेकी आपने बात ही की। आप यूँ भी कह सकते थे कि वहाँका प्रबन्ध, वातावरण इतना अच्छा है कि लोग घरको भूल जाते हैं। मरीज़ रेडियो, शतरंज आदि रख सकते हैं....वग़ैरह वग़ैरह।"

"भाई साहब, वाक़ई मुझसे भूल हुई।"

पति रातको दस बजे घर पहुँचे तो उनकी पत्नी चारपाईपर लेटे-लेटे ही बोली, "अजी, सुनो हो।"

"क्यों, क्या है ?"

"तुम्हारा दूध बिल्ली पी गयी, तुम मेरा पी लेना।"

"क्या बच्चोंसे फालतू बचने लगा।"

"तुम्हें तो हर बातमें मज़ाक़ सूझता है। मेरा मतलब तो यह है कि मेरे हिस्सेका पी लेना।"

बेशक, मगर यही वाक्य पहले कह दिया जाता तो क्या बुरा होता।"

मिस्टर सी० बीस-बाईस वर्षके क़वी-हैकल जवान हैं। कल ही शादी करके छम-छम करती दुलहिन लाये हैं। आज उनकी सुहागरात है। इष्ट-मित्रोंका ताँता मुबारकबाद देनेके लिए लगा हुआ है। ख़ुशगप्पियोंके क़ुमक़ुमे उड़ रहे हैं। क़ह-क़होंके फ़व्वारे छूट रहे हैं। बरजस्ता हाज़िरजवाबियोंसे यार लोग हँसीके मारे दोहरे हुए जा रहे हैं।

इन्हीं दोस्तोंमें एक बीमा-एजेण्ट भी आये हुए हैं। उन्हें इस समारोहसे कोई दिलचस्पी नहीं। वे तो मौक़े-महलकी तलाशमें हैं कि कैसे और क्योंकर नुक्तेकी बात कही जाये। इतनेमें ही एक मनहूस शक्लने रंगमें भंग करते हुए फ़र्माया, "अबे यारो, वह ख़बर भी सुनो, इटावेमें परसों सुहागरातके कमरेमें ही दूलहाको साँपने डस लिया। बेचारा दुलहिनका मुँह भी न देख सका...."

बीमा-एजेण्ट तो ऐसे प्रसंगकी ताकमें थे ही, अतः बीचमें ही बात काटते हुए बोले, "वह तो ग़नीमत हुई जो तीन माह पेश्तर मैं उनका दस हज़ारका बीमा कर आया था, वर्ना····?"

"अरे साहब, इस मनहूस ज़िक्रको दफ़न कीजिए। कुछ तो मौक़े-महलका ख़याल रखिए।" एक मित्रने टोकते हुए कहा।

"बुरा न मानिए, सच्ची बात हमेशा कड़ुई होती है। कल ये शादी करके लाये हैं। भगवान् न करे इनके दुश्मनोंको कुछ हो। वर्ना यही शादियाने मातममें तब्दील हो जायेंगे। बीमा एक पैसेका भी नहीं है। रिश्तेदार सब भाग खड़े होंगे, तब इस नयी-नवेली दुलहिनका क्या होगा?····"

बीमा-एजेण्ट न जाने क्या-क्या गुलअफ़सानिया करता कि स्वयं दूलहा परेशान होकर यह कहता हुआ वहाँसे खिसक लिया, "भगवान्के वास्ते चुप हो रहिए! बाबूजी सुन लेंगे तो खड़े-खड़े निकलवा देंगे।"

१९ मार्च १९५५ ई०

वे पुराने राहो-रस्म

मेरी उम्र उस वक़्त सात-आठ वर्षकी रही होगी। मैं अपनी नानीके साथ उसके मायके (अलीपुर, ज़िला-मथुरा) गया तो हमको देखने-मिलने गाँवके प्रायः सभी लोग आये। नानीको किसीने लाली, किसीने बहना, किसीने भूआ, कहकर कुशल-क्षेम पूछी। महिलाओंमें-से बड़ी बूढ़ियोंने सिरपर हाथ फेरा, हमजोलियाँ गले मिलीं और नयी-नवेलियाँ पाँव लगीं।

मुझे भानजे राजा, भैया, वीरा कहकर गोदमें उठा लिया। उस स्वागत-सत्कार, लाड़-प्यारको देखकर मालूम होता था कि गाँवका-गाँव वर्षोंसे हमारे दर्शनोंका प्यासा था, परन्तु यह तो गाँवका आम रिवाज था।

गाँव-क़सबोंमें किसीके बारात आती तो बारातियोंके ठहरनेके लिए अपनी बैठकें और कमरे खाली कर देते। बारातियोंसे सभी ज़ातके लोग हँसी-ठट्ठा करते। किसी एकका दामाद गाँव-भरका दामाद और किसी एकका साला जगत्-साला और जगत्-मामा होता था। कोई ज़ात हो, उम्रके हिसाबसे रिश्ता निभता था।

मैं नन्हीं धोबिनको माँसी कहा करता था, क्योंकि वह माँके पीहरके गाँवकी थी। अपनी ननसालमें फ़तुआ कढेरेको नाना, सिद्दीक़ चपरासी और विरजा ठठेरेको मामा और सुखिया मेहतरानीको मामी कहता था।

शुरू-शुरूकी बात है, होलीके दिन थे। सुखियाने मुझे तनिक छेड़ दिया। मैंने चिढ़कर कहा, "चल चूहड़ी।" नानीने सुन लिया, बोली, "क्यों रे बदतमीज़, मामीसे यूँ हमकलाम हुआ जाता है? चल हाथ जोड़।"

मैं झल्लाकर बोला, "यह मेहतरानी होकर हमें क्यों छेड़ती है? हम तो इससे कुछ कहते नहीं।"

"तू कुछ नहीं कहेगा, तो क्या यह भी कुछ नहीं कहेगी, तू इसका भानजा जो है।"

"नहीं, हमें यह सब अच्छा नहीं लगता।"

"अन्य छेड़ती हैं, तब तो कुछ नहीं कहता, मुस्कराता रहता है, फिर इससे क्यों चिढ़ता है?"

"चूहड़े-चमारोंसे हमें छेड़-छाड़ पसन्द नहीं।"

"ख़बरदार जो चूहड़ी-चमारी कहा। चिमटेसे ज़बान दाग़ दूँगी। अपनी माँ बराबरकी-से तू इस तरह बोलेगा? क्या यही तेरे पण्डतने तुझे पढ़ाया है। बिलांद-भरका छोकरा और गज़-भरकी ज़बान। मामीके अलावा तैंने कुछ और कहा तो मुझसे बुरा न समझना।"

होलीपर उस भागवान्ने मुझे खूब बनाया और मैं भी उसे रंगसे तर किये बग़ैर न रहा।

मेरे मामाजीके लाला सूरजभान लँगोटिये यार थे। वे और उनकी पत्नी बीस-बाईस वर्षकी उम्रमें ही स्वर्गस्थ हो गये थे। उनके बाद मामाजी क़रीब सोलह-सत्रह वर्ष और जीवित रहे। मित्रकी ससुरालवालोंने मामीको अपनी पुत्री और मामाजीको सदैव जँवाई समझा। हर दुःख-सुखमें आना-जाना रहा। यहाँतक कि उनके मित्रकी सालियाँ जहाँ ब्याही गयीं, वे लोग भी सगे साढ़ूके समान उन्हें मान और स्नेह देते रहे। हम अग्रवाल जैन थे और वे खण्डेलवाल जैन। उन दिनों इन जातियोंमें बेटी-व्यवहार नहीं था। फिर भी इतनी घनिष्ठता थी कि किसीको आभास तक न होता था कि ये सगे बेटी-जँवाई नहीं, बल्कि दूसरे हैं।

मई १९२२ ई० की बात है, मेरे बड़े भाई (मातुलपुत्र) की बारात कोसीकलाँ (ज़िला—मथुरा) से फ़र्रुखनगर (ज़िला—गुड़गाँव) गयी। औरतोंसे दूरसे हास-परिहास करना बृजमें एक आम रिवाज है, कोई बुरा नहीं

मानता। इसी प्रथाके अभ्यस्त कुछ बारातियोंने एक पनिहारिनपर आवाज़ाकशी की तो वह तो चुपचाप अपने मकानमें चली गयी; परन्तु एक रास्ता चलता मुसलमान बारातियोंसे उलझ पड़ा। उसका रंगमें भंग डालना बारातियोंको नागवार गुज़रा। वे झल्लाकर बोले, "तू कौन होता है बे, दाल-भातमें मूसलचन्द बननेवाला। हम हिन्दू तू मुसलमान, हमारा तेरा वास्ता क्या ?"

मुसलमान भी तैशमें आकर बोला, "बेहूदो, इतना भी नहीं जानते। गाँवकी बहू-बेटियोंकी इज़्ज़त गाँव-भरकी इज़्ज़त होती है। अगर किसीने फिर आवाज़ाकशी की तो मारे लाठियोंके कचूमर निकाल दिया जायेगा।"

मैंने बारातियोंको समझाया कि यह वृज नहीं है, पंजाब है। यहाँ आवाज़ाकशी गुनाह समझा जाता है। मेरे समझाने-बुझानेपर वे लोग वहाँसे खिसक तो लिये, परन्तु यह उनकी समझमें न आया कि एक मुसलमान हिन्दू औरतकी तरफ़दारी क्यों कर रहा था ?

फ़र्रुखनगर का ज़िक्र आते ही मुझे एक संस्मरण स्व० बाबू अजितप्रसादजी जैन एडवोकेट-द्वारा सुनाया हुआ और स्मरण हो आया। बातचीतके प्रसंगमें आपने फ़र्माया, "हम लोग रहनेवाले तो देहलीके हैं, परन्तु हमारे बाबा नसीराबाद छावनीमें सरकारी मुलाज़िम थे। १८५७ ई०के ग़दरके दिनोंमें हमारी दादी, बूआ, पिता दिल्लीमें ही थे। ग़दर शान्त होनेके बाद वे लोग बैलगाड़ी-द्वारा नसीराबादके लिए रवाना हुए, क्योंकि उन दिनों रेलोंका प्रचलन नहीं हुआ था। रास्तेमें एक मुसलमान सिपाही मिला तो वह भी गाड़ीके साथ-साथ चलता रहा। वह फ़र्रुखनगरका रहनेवाला था। उसे जब यह मालूम हुआ कि दादी भी वहींकी बेटी हैं, तो बहुत खुश हुआ। रात हुई तो अकस्मात् चोरोंने गाड़ीको घेर लिया। चोरोंसे गाड़ीको घिरा देख सिपाही बा-आवाज़ बुलन्द बोला, "गाड़ीको हाथ न लगाना वर्ना गोली मार दूँगा।"

चोरोंने संकेत किया, तू मुसलमान होकर क्यों बीचमें टाँग अड़ाता है, चुप रहा तो हिस्सेमें साझी कर लिया जायेगा। सिपाहीने कहा, "मूर्खो, यह हमारे गाँवकी बेटी है, क्या बेटीका धन भी हज़म होता है ?" चोर भी उसकी बातसे प्रभावित हुए और वह चुपचाप चले गये।

सिपाही अपनी चौकीपर जाकर रुक गया। लेकिन उसने इस तरहका प्रबन्ध कर दिया कि दादी वग़ैरह सब सकुशल नसीराबाद पहुँच गये।

जब गाँवके रिश्तेकी बात चली है, तो एक ऐतिहासिक घटनाका उल्लेख करनेका लोभ संवरण नहीं हो रहा है। यह वाक़या मुझे उर्दूके लब्धप्रतिष्ठ साहित्यिक एवं शाइर हज़रत 'असर' लखनवीने १७ जनवरी १९५५को अपनी जबाने-मुबारकसे सुनाया था, जब कि मैं लखनऊके काश्मीरी मुहल्लेमें उनके दरे-दौलतपर ज़ियारत करनेके लिए गया था। न जाने कैसे आपसके पुराने राहो-रस्मपर ज़िक्र चल निकला तो आपने एक ऐतिहासिक घटनाका उल्लेख किया। खेद है कि मैं घटनासम्बन्धी नाम-स्थान तो भूल गया, परन्तु उसका सार स्मरण है।

नवाबी शासनकालमें एक गाँवने सामूहिक रूपसे सरकारको लगान देना बन्द कर दिया तो उस विद्रोही गाँवको ज़ेर करनेके लिए फ़ौजकी एक टुकड़ी नवाबने रवाना की। उस फ़ौजी टुकड़ीके नायक एक हिन्दू थे। गाँवके बाहर फ़ौजका पड़ाव था, वहाँ एक युवती आयी और सन्तरीसे जाकर बोली, "सुना है, फ़ौजके साथ हमारे मामा भी आये हैं।"

सिपाहीने मामाका नाम जानना चाहा कि अकस्मात् सेनानायक ख़ेमेसे बाहर निकल आये और सन्तरीको एक युवतीसे महवे-गुफ़्तगू देखकर पूछा, "यह कौन औरत है, यहाँ क्यों आयी है ?" सन्तरी कुछ जवाब दे कि वह युवती बोली, "मामा, शायद आपने मुझे पहचाना नहीं। मेरी माँ आपके कहारकी लड़की थी, मैं छुटपनमें अकसर उसके साथ लखनऊ आती-जाती

थो, तभीसे मैं आपको जानती हूँ। यहाँ मेरी ससुराल है।"

इस भानजीको दो मीठे शब्द कहकर सेनानायकने बिदा कर दिया, परन्तु फिर सोचमें पड़ गये। अगर गाँवका मुहासरा करता हूँ तो मुमकिन है लड़ाईमें इसका पति भी मारा जाये। तब क्या मैं अपनी इस मुँहबोली भानजीके वैधव्यका पातकी नहीं बनूँगा ?"

सेना बग़ैर विद्रोह दबाये लखनऊ वापस लौट गयी। सेनानायक नवाबके समीप जाकर बोला, "गुलामने हुक्म-उदूली की है। मैदाने-जंगसे पीठ दिखायी है, आप मुझ बुज़दिलको तोप-दम करा दीजिए।"

नवाबने वास्तविक स्थिति मालूम की तो फ़र्माया, "वह तुम्हारी ही नहीं, हमारी भी भानजी है। इस रिश्तेकी यादगारमें हम हमेशाको उस गाँवका लगान माफ़ करते हैं।"

न अब बादशाहका नाम स्मरण है, न उस ब्राह्मणीका, परन्तु ऐतिहासिक घटना है, और जिस मुसलिम इतिहासमें यह घटना पढ़ी थी, वह ग्रन्थ भी मेरे पास नहीं है। धुँधली-सी जो याद है, वही अंकित किये दे रहा हूँ।

लगभग १७वीं शताब्दीकी घटना है कि दिल्लीके तत्कालीन निर्बल एवं अशक्त मुग़ल बादशाहको कुछ कुचक्रियोंने धोखेसे दिल्लीके फ़ीरोज़-शाह कोटलेमें ले जाकर मार डाला और उसे राजघाटकी तरफ़ फेंक दिया। यमुना-स्नान करके उस ओरसे आती हुई एक ब्राह्मणीने मृतक बादशाहको देखा तो उसकी सूचना क़िले तक पहुँचा दी।

उस कृतज्ञताके फलस्वरूप बादशाहके उत्तराधिकारी बादशाहने ब्राह्मणीको बहुत आदर दिया और उसकी लड़कीको बहनकी तरह माना। रक्षा-बन्धन, दशहरा, भैयादूजपर अपनी इस बहनको क़िलेमें बुलाता और भेंट आदि देकर आदर-स्नेह प्रकट करता।

२३ अगस्त १९५५ ई०

चढ़ते सूर्यको नमस्कार

मैं एक ऐसे साहित्यिकको जानता हूँ जो आज हिन्दी-साहित्यमें प्रसिद्ध कहानी-लेखक, कवि और विचारक हैं। एक सुप्रसिद्ध मासिक पत्रके सफल सम्पादक हैं। उनकी रचनाओंके लिए पत्रकार मुँह धोये रहते हैं। पर सन् ३२में जब वे बन्दी थे, उन्हें साहित्य-संसारमें कोई जानता न था। उनकी अप्रकाशित कहानियोंके संग्रहको एक प्रसिद्ध प्रकाशकने यह कहकर लौटा दिया था कि अभी उन्हें दस-पाँच वर्ष क़लम पकड़ना सीखना चाहिए। सौभाग्यकी बात वह कहानी-संग्रह मुझे भी देखनेको मिला, और मुझे वह बेहद पसन्द आया। मेरी अभिलाषा थी कि यह संग्रह किसी-न-किसी तरह प्रकाशित होना ही चाहिए। पर, मेरे पास ऐसे साधन नहीं थे। न तो मेरा स्वयं किसी पत्र-सम्पादकसे विशेष परिचय था और न पुस्तक-प्रकाशकोंसे। और कुछ था भो तो भय था कि जो लेखक राजनैतिक-षड्यन्त्रमें गिरफ़्तार है, उसकी कृति कौन छापेगा? मैं बड़ा द्विविधामें था। रचनाएँ उत्तम हैं, छपनी चाहिए, और मैं छपवा दूँगा, इसी आश्वासनपर वे मैंने प्राप्त की थीं। यदि न छपीं तो ये अनमोल रचनाएँ तो नष्ट होंगी ही, साथ ही मेरी भी हँसी होगी। इसी चिन्तामें व्यग्र कॉपीके पृष्ठ इधर-उधर पलट रहा था कि एक ख्यातिप्राप्त कहानी-लेखक जेलसे छूटनेपर मुझसे मिलने आये। वार्तालापके दौरानमें उन्होंने भी वे कहानियाँ देखीं, और उन्हें वे बेहद भायीं। मुझसे उन्होंने लेखकका परिचय पूछा। बतानेपर उन्होंने मुझसे वह कॉपी ले ली और अपने परिचित सम्पादकोंके पास अपनी ओरसे एक नोट लगाकर प्रकाशनार्थ भेज दी। एक-दो कहानीका प्रकाशित होना था कि हिन्दी-संसारमें धूम मच गयी। जिन पत्रोंने उनकी कहानियाँ

वापस की थीं, जिस प्रकाशकने क़लम पकड़ना सीखनेकी सलाह दी थी, वे कहानियोंके लिए उनके पास चक्कर काटने लगे।

और जिन ख्यातिनामा कहानी-लेखकके परिचय देनेपर वे इतने बढ़े, वे ख्यातिनामा कहानी-लेखक स्वयं प्रारम्भमें प्रसिद्धि प्राप्त करनेसे पूर्व प्रकाशकोंके यहाँ भटकते फिरते थे। उनके पास प्रकाश था, पर अन्धे सम्पादकों और प्रकाशकोंको दिखाई न देता था। उनकी वह कहानी जिससे वे एकदम इतने ऊँचे उठे, 'चाँद' के फाँसी अंकमें न छापकर बैरंग लौटा दी गयी थी। जिस पुस्तकपर पुरस्कार मिला, एक प्रकाशकने वह महीनों रद्दीमें डाले रखी थी। जब वे लिखते ज़्यादा थे और छपता बिलकुल नहीं था, तब लोग उनकी भाषा, भाव और मुहावरोंमें अशुद्धियोंके सिवा और कुछ न पाते थे। और आज वही चीज़ें छप गयीं तो अशुद्धियाँ देखनेवाले उनमें महत्ताका दर्शन करने लगे।

फ़रवरी १९४० ई०

थर्ड क्लासका सफ़र

हाँ तो साहब यह उन्हीं दिनोंकी बात है, जब हम और महात्मा गान्धी एक ही क्लासमें सफ़र किया करते थे। हमारे साथ महात्माजीका नाम सुनकर चौंकिए नहीं। हम दोनों ही बड़े आदमी हुए हैं। यदि थोड़ा-बहुत अन्तर माना भी जाये तो यही कि वे प्रथम श्रेणीके अधिकारी होते हुए भी जीवन पर्यन्त तृतीय श्रेणीका आनन्द लेते रहे और हम थर्ड क्लास होते हुए भी फ़र्स्ट क्लासके स्वप्न देखते रहे।

यह बात दूसरी है कि जिस ट्रेनसे महात्माजी सफ़र करते थे, हमने उस ट्रेनसे सफ़र करनेकी हिमाक़त कभी नहीं की। जान-बूझकर ओखलीमें सिर देनेका शऊर हमें कभी नहीं आया। उनकी मेल ट्रेन भी बैलगाड़ी बन जाती थी। रात हो या दिन हर स्टेशनपर नारे-बाज़ोंकी भीड़ रहती थी। सामान उचक जानेका हर वक़्त ख़तरा रहता था। इसलिए हमने हमेशा इतर ट्रेनोंसे सफ़र किया।

मस्जिदके ज़ेर साये किरायेका मकान लेकर रहनेपर मिर्ज़ा ग़ालिब जब अपनेको ख़ुदाका पड़ोसी समझ सकते हैं[1]। लार्ड किचनरके साथ एक ही हाथीपर बैठनेवाले उनके महावत और बॉडीगार्ड फ़ख्रिया बयान कर सकते हैं कि हमारा और लाटसाहबका जुलूस दरबारके मौक़ेपर एक ही हाथीपर निकला था। पण्डित जवाहरलाल नेहरूके बन्दी-जीवनका समकालीन मेहतर भी जब यह कह सकता है कि हम और जवाहर भाई

१. मस्जिद के ज़ेर-साये इक घर बना लिया है।
यह बन्द-ए-कमीना हमसाय-ए-ख़ुदा है॥

साथ-साथ जेल काटते रहे हैं। तब साहब, हम यह कहनेसे क्यों बाज़ आयें कि हम और महात्माजी एक ही क्लासमें सफ़र करते रहे हैं। खासकर ऐसे ज़मानेमें जब राम-नामसे अधिक गान्धी-नामकी लूट मची हुई है।

किसीने चूल्हेकी राख रजत-पात्रमें भरकर उसे गान्धी-भस्म कहकर रसायन बना ली। किसीने अपने माँके उखड़े हुए दाँतको गान्धी-दाँत घोषित करके ख्याति पा ली। किसीने परिहास खोज डाले, किसीने चमत्कार गढ़ डाले, किसीने रो-धोकर पत्र एकत्र कर डाले। किसीने डाँडी और नोआखाली-यात्राका सम्बन्ध उसी तरह भिड़ा लिया, जैसे रेवती चमार अपनेको बीरबरका मौसेरा भाई समझता था। क्योंकि बीरबरकी घोड़ी जिस जंगलमें चरती थी, उसी जंगलमें रेवती घास खोदा करता था और बीरबरकी घोड़ी उसे मातृवत् स्नेह करती थी।

जब महात्माजीके नामकी इस क़दर लूट मची हुई है कि हर काँग्रेसी अपने पाँच मिनिटके भाषणमें पचास बार उनका नाम जपता है, तब हम यथार्थ बात भी न कहें कि हम और महात्माजी एक ही क्लासमें सफ़र किया करते थे।

महात्माजीके बारेमें तो हम कुछ नहीं बताना चाहते, परन्तु हम थर्डमें सफ़र अत्यन्त सावधानीसे किया करते थे। जिस डिब्बेमें पठान होते, हम सण्डास समझकर पास नहीं फटकते थे। पुलिस-फ़ौजके डिब्बेमें बैठना उसी तरह शानके खिलाफ़ समझते थे, जैसे मन्त्रिमण्डलमें सम्मिलित होना समाजवादी समझते हैं। अपना लक्ष्य मारवाड़ी-बंगाली-बाहुल्य डिब्बेकी ओर ही विशेष रहता। प्रारम्भमें काँय-कूँ, मोशाय, भालोके आशीर्वचन मिलते, धीरे-धीरे सब प्रकारकी सुख-सुविधाएँ मिलतीं। मतलब यह कि मुसलिम-लीगी ढंगसे हर खतरेसे बचकर फोकटमें ही, पाकिस्तान हथियानेके समान हम भी सीट हथियानेका खयाल रखते। न दामपर किसी क़िस्मकी आँच आने देते न कोई ज़हमत उठाते, मगर सफ़र ठाटसे करते।

१९२५ ई० की शरद् ऋतुकी रातको जयपुरसे आगरे आनेके लिए

मार्गमें बाँदीकुईपर रेल बदलनी थी। सौभाग्यसे ऐसे डिब्बेके दर्शन हो गये, जिसमें सीट तो कोई रिक्त न थी, सभी लम्बी ताने हुए थे, परन्तु दरवाज़े-पर कोई पहरेदार न था। निःशंक उसमें प्रवेश करके अपने बक्सपर बिस्तरा रखके हम उसपर इस शानसे बैठ गये, गोया कोई हिज़ हाईनेस ऊँटपर बैठा हुआ हो। अभी बैठे हुए ब-मुश्किल तमाम दो-चार मिनिट ही हुए थे कि हमारी यह शान एक षोडशवर्षीयासे न देखी गयी। कहाँ तो वह पूरी बर्थपर बक़ौल 'असर' लखनवी यूँ महवे-ख़्वाब थी,

दमे-ख़्वाब है, दस्ते-नाज़ुक जबीं पर।
किरन चाँद की गोद में सो रही है॥

और कहाँ साहब उसने हमें देखकर पाँव उसी तरह समेट लिये, जैसे हड़तालियोंको देखकर व्यापारी दूकान समेट लेते हैं। हम गावदी संकेत न समझे और जब क्या, कभी भी न समझे। बक़ौल 'सबा' अकबराबादी,

ग़लत फ़हमियों में जवानी गुज़ारी।
कभी वे न समझे, कभी हम न समझे॥

तो उसने हिनाई हाथसे अपनी बर्थपर बैठनेका इशारा किया। जी, हाँ वही हिनाई हाथ, जिसके सम्बन्धमें 'रियाज़' ख़ैराबादीका यह शेर मौज़ूँ हो रहा था,

नाज़ुक कलाइयों में हिनाबस्तः मुट्ठियाँ।
शाख़ों पै जैसे मुँह बँधी कलियाँ गुलाब की॥

एक षोडशवर्षीयाका संकेत आधी रातको और वह भी अपने पास बैठनेके लिए, दिल बल्लियों उछलने लगा। मँगर हम भी यूँ ही नहीं थे कि ज़रा अच्छी शक्ल देखी और रेशाख़त्मी हो गये। अरे साहब, हम तो हम थे, चाहतका इशारा पाकर तो गधी भी मग़रूर हो उठती है। हमें भी अपने मुताल्लिक़ ग़लतफ़हमी होने लगी। कभी हम अपने बाज़ुओंको और कभी अपने सीनेको देखने लगे। मगर वही गन्ने-से बाज़ू और वही हवा

निकला हुआ ब्लेडर-जैसा सोना। न सिरपर ज़ुल्फें न मुँहमें पान, कपड़े भी खद्दरके मैले। फिर हे भगवान्, यह मामला क्या है। ख़याल हुआ कि शायद हमारी सादगीने ग़ज़ब ढाया हो। बक़ौल ग़ालिब,

इस सादगी पै कौन न मर जाये ऐ ख़ुदा !
लड़ते हैं, मगर हाथ में तलवार भी नहीं ॥

हमने इरादतन दूसरी जानिब मुँह फेर लिया तो क्या देखते हैं साहब, कि उस तरफ़ एक गबरू जवान सोया हुआ है। हमारे मुँह फेरते ही वही हरकत उसने भी दोहरायी। हमें असमंजसमें घिरा देख उसने कहा,

"आप उधर नहीं बैठते हैं तो मेरी तरफ़ बैठ जाइए। बहरहाल आपको इधर-उधर बैठना लाज़िमी है।" मैंने तकल्लुफ़न अर्ज़ किया, "आप लोग आराम फ़र्मायें, न जाने कितनी दूरसे चले आ रहे हैं। मेरा क्या है, सुबह उतर जाऊँगा।"

युवक बोला, "आप बैठे रहेंगे तो हम दोनोंको नींद नहीं आयेगी।"

अब हम घबराये कि आखिर माजरा क्या है? गो हमारी शक्लो-शबाहत दर्शनीय नहीं, मगर उचक्कों-जैसी भी नहीं। फिर इनके पास सामान भी कुछ ऐसा नहीं, जिसके उचक जानेका भय हो, फिर नींद न आनेका कारण क्या है? हम साहस करके पूछ ही बैठे, "नींद न आनेका कारण?"

अब युवतीने गुलफ़िशानी की, "एक साथी बैठा रहे, दूसरा सोता रहे, ऐसा भी कहीं होता है? निगोड़ी नींद न हुई, बेहया....!"

उसने कुछ इस अन्दाज़से कहा कि मालूम होता था कि चमेलीके फूल झड़ रहे हैं। हमारी अब क्या बिसात जो हुक्म-उदूली करते। उन्हें सुलानेकी ख़ातिर हम भी आधी बेंचपर लेट कर नींद लानेका उपक्रम करने लगे। मगर नींद कहाँ, हम तो 'साक़िब' लखनवीके इस शेरको गुनगुनाते हुए करवट बदलते रहे,

लूटने वाले हमारी नींद के।
किस मज़े से रात-भर सोया किये ।।

उसका रंग-रूप यूँ समझिए कि जैसे अंगूरके रसमें थोड़ा सिन्दूर घोल दिया हो। जवानीकी चौखटपर पाँव रखे उसे विलम्ब नहीं हुआ था। फिर भी सुबह उठकर देखा तो लोग उसे ऐसे निहार रहे थे, जैसे अपनी परवान चढ़ती बहन-बेटीको देख रहे हों। उसके रोम-रोमसे सौन्दर्य झाँक रहा था, परन्तु मादकताका अभाव था। उसे सभी देख रहे थे, परन्तु घूर नहीं सकते थे। उसके मुखपर कुछ ऐसा प्रभावशाली लावण्य था कि कुत्सित कल्पना हो ही नहीं सकती थी। जब वे उतरे तो डिब्बेमें बैठे हुए एक पढ़े-लिखे संन्यासीने उन्हें प्लेटफ़ार्मपर एक साथ खड़े करके उनके दीर्घजीवनके लिए आशीर्वाद दिया। मैंने भी 'असर' लखनवीका यह शेर मनमें दोहराया,

अब मैं समझा मुराद जन्नत से।
आप जिस राह से गुज़र जायें ।।

२४ अगस्त १९५५ ई०

एक वे भी मुसाफ़िर थे

सन् १९३३ ई० की शरद् ऋतुकी बात है, मैं 'राजपूतानेके जैन-वीर' नामक अपने इतिहास-ग्रन्थके सम्बन्धमें कुछ अनुशीलन करनेके लिए दिल्लीसे उदयपुर जा रहा था कि अजमेरमें ख्वाजा चश्तीके मज़ारका उन दिनों उर्स होनेके कारण ट्रेनमें तिल रखनेको स्थान न था। कई चक्कर काटनेके बाद गार्डके डिब्बेके नज़दीक एक छोटे-से डिब्बेपर नज़र गयी तो, उसमें सिर्फ़ एक हज़रत नज़र पड़े। ऊपर-नीचे झाँककर देखा, न लेडीज़, न रिज़र्व, न ओनली पुलिस-फ़ौज, न आइस कम्पार्टमेण्ट लिखा था।

झिझकते हुए अन्दर गया तो खयाल आया कि कहीं रातको किसी स्टेशनपर कटनेवाला डिब्बा न हो। इस खयालसे पूछा तो बोले, "आप इत्मीनानसे दूसरे बर्थपर बिस्तरा जमा लीजिए, और देखिए साहब बुरा न मानिए अगर और मुसाफ़िर आयें तो उन्हें अपनी बेंचपर बिठाते जाइए। मैं अपनी बेंचपर सोया रहूँगा। बग़ैर सोये मेरे सिरमें दर्द हो जाता है और साहब मुझे जयपुर पहुँचकर कल ऑफ़िस भी अटेण्ड करना है।"

मैंने बहुत मुनासिब कहकर दूसरी बेंचपर बिस्तरा लगाया। लेटकर उन्हें ग़ौरसे देखा कि कहीं हज़रत सोतेमें हमला तो न कर बैठेंगे। मगर इसकी उनसे कोई आशा नहीं थी। निहायत लतीफ़, नाज़ुक मिज़ाज थे।

रातको नींद उचटी तो देखा उनके बिस्तरेपर दो व्यक्ति और ऊँघ रहे हैं और स्वयं सिकुड़े हुए खिड़कीसे लगे बैठे हैं। मैंने उन्हें इस स्थितिमें देखा तो अर्ज़ किया, "वाह साहब, यह अमानतमें खयानत कैसी ? आप ही के क़ौलके मुताबिक इस मालपर तो मेरा हक़ है ?"

सुनकर आप सिर्फ़ मुस्कराये, जवाब न पाकर मैं फिर खर्राटे लेने लगा। फिर नींद खुली तो देखा, दो रेलवे बाबू खड़े हुए हैं। मैंने पाँव समेटते हुए कहा, "अरे साहब, आप वहाँ खड़े क्यों हैं? यहाँ बैठिए।"

वे केवल "थैंक-यू" कहकर पूर्ववत् खड़े रहे। मैंने फिर अर्ज़ किया, "आप यहाँ आकर बैठिए, हम लेटे रहें, और आप खड़े रहें, यह तो सरीहन ज़ुल्म है।"

वे मुस्कराकर बोले, "आप हमारी रेलमें सफ़र कर रहे हैं, हमारे मेहमान हैं। आप सोते चलें और हम आपको देखकर मुस्कराते रहें, यही हमारे लिए शोभनीय है।"

आग्रह करनेपर भी न वे बाबू बैठे और न मेरे पास उन नाज़ुक मिज़ाज हज़रतने अपने पड़ोसियोंको आने दिया। मुझे भी नींद फिर क्या आनी थी। पड़ा-पड़ा हालीके इस शेरको गुनगुनाता रहा,

जानवर, आदमी, फ़रिश्ता, ख़ुदा।
आदमी की हैं, सैकड़ों क़िस्में॥

२० मार्च १९५५ ई०

प्रतिज्ञा न लेनेकी प्रतिज्ञा

पहाड़ी-धीरज, दिल्लीमें एक हज़रत रहते हैं, बहुत हँसमुख और मिलनसार। सिरके बाल सफ़ेद हो गये हैं, एक-दो दाँत भी दग़ा दे गये हैं। मगर दिल्लीकी जौलानी बरक़रार है। बहुत चुहलबाज़ हैं। बात-बातपर फ़व्तियाँ कसते हैं। जिस दिन किसीको दस-पाँच गालियाँ न दे लें और न सुन लें तो उस दिनको वे मनहूस समझते हैं। कोई कुछ भी कह ले बुरा नहीं मानते। मुस्कराते रहते हैं। जवानी उनकी रंगीन रही है। वालिद कमाते थे और वे दोनों हाथोंसे लुटाते थे। उनका यक़ीन था कि रिश्वतकी कमाई लुटानेसे ही बढ़ती है। वालिद बुज़ुर्गवारने काफ़ी समझाया, मगर उनपर कोई असर नहीं हुआ।

संयोगसे पहाड़ी-धीरजपर एक जैन-साधुका चातुर्मास हुआ। उनके तप-तेजकी बहुत ख्याति थी। वाणीमें चमत्कार था कि जिस किसीको जो भी प्रतिज्ञा लेनेको कहा नतमस्तक होकर स्वीकृत कर ली। उनके बुज़ुर्गवारने भी एक रोज एकान्तमें साधुके चरण पकड़कर अपनी वेदना बखेर दी, "महाराज, एक ही लड़का है, वह भी दारा-सुराके चक्करमें फँसा हुआ है? हमारा उद्धार कीजिए प्रभो।"

महाराजके आश्वासन देनेपर उन्होंने चरण छोड़े। हज़रत भी महाराजके दर्शनार्थ आते-जाते थे। एक रोज़ एकान्त देखकर महाराज कुछ कहना ही चाहते थे कि आप बोले, "महाराजजी, शर्मिन्दा न कीजिए। मैं पहले ही प्रतिज्ञा ले चुका हूँ।"

साधु उनके सरल स्वभाव और धार्मिकतासे गद्गद हो गये। अनेकानेक आशीर्वाद दिये। जानेके बाद पिता आये तो साधु बोले, 'भव्य,

तुम बहुत भाग्यशाली हो, जो ऐसा पुत्ररत्न पाया। तुम्हारा पुत्र सच्चा सम्यक्ती है। मेरे संकेतसे पूर्व ही प्रतिज्ञा ले ली।"

पिता आश्वस्त होकर घर चले गये। मगर हज़रतका कहीं पता न था। वे हस्ब-दस्तूर रातके चार बजे आये। बुज़ुर्गवारने सिर पीट लिया। सुबह आँखोंमें आँसू भरकर साधुको स्थिति बतलायी तो, साधु भी आश्चर्यमें पड़ गये। पहले तो उन्हें विश्वास हो न हुआ कि मन्दिरमें और वह भी साधुके सामने ली हुई प्रतिज्ञा कोई कैसे तोड़ सकता है? यह उनके जीवन-में पहली घटना थी।

एक रोज महाराजका उनके घर आहार हुआ। आहारके बाद नियमा-नुसार साधुने उपदेश दिया, फिर परिवारके सदस्योंको कोई-न-कोई प्रतिज्ञा दिलायी। उनकी तरफ़ देखकर बोले, "तुम्हें क्या प्रतिज्ञा दिलायें, जो मन्दिरमें ली हुई प्रतिज्ञा भी तोड़ देते हो।"

हज़रत हाथ जोड़कर बोले, "महाराज, मैंने कोई प्रतिज्ञा नहीं तोड़ी। प्राण भले ही निकल जायें, परन्तु ली हुई प्रतिज्ञा नहीं तोड़ सकता।"

"क्या तुमने उस रोज़के बाद सुरा-पान नहीं किया?"

"ज़रूर किया, रोज़ करता हूँ।"

"फिर तुमने मुझसे उस रोज़ क्यों कहा कि महाराज, शर्मिन्दा न करें, मैं पहले ही प्रतिज्ञा ले चुका हूँ।"

"महाराज, उस प्रतिज्ञापर दृढ़ हूँ, दुनिया इधरसे-उधर हो जाये, यहाँतक कि आप भी तोड़नेको कहें तो न तोड़ूँ।"

"विचित्र आदमी हो, यह भी कहते हो कि शराब रोज़ पीता हूँ, और यह भी दावा है कि प्रतिज्ञा नहीं तोड़ूँगा। मेरी समझमें यह पहेली नहीं आयी।"

हज़रत चुपके-से बोले, "महाराज, मैंने यह कब कहा था कि सुरा-

दाराका त्याग करता हूँ। मैंने तो यही निवेदन किया था कि प्रतिज्ञा ले ली है।"

"फिर किस चीज़की प्रतिज्ञा ली थी ?"

"महाराज, प्रतिज्ञा न लेनेकी प्रतिज्ञा ली थी और यह प्रतिज्ञा मैं कदापि नहीं तोड़ूँगा।"

३ अक्टूबर १९५५ ई०

जमा-ख़र्च

हमारे मुहल्लेमें एक बुज़ुर्ग थे। खरी-खरी कहनेमें किसीसे नहीं चूकते थे। उनसे बात करते हुए लोग घबराते थे। एक रोज़ एक युवक रोते हुए आकर बोला, "ताऊजी, लाला काल कर गये।"

आपने अन्यमनस्क भावसे जवाब दिया, "अच्छा हुआ।"

युवक सकतेमें रह गया कि यह इन्होंने क्या कहा? मेरे पिताजी मर गये, सहानुभूति प्रदर्शित करनेके बजाय कहते हैं, "अच्छा हुआ।" मनो-व्यथा दबाकर बोला, "अभी रातको ले जानेका इरादा है।"

वे उसी तरह बोले, "सुबह भी ले जा सको तो ग़नीमत है।"

"यह क्यों ताऊजी?"

"भाई अपना खाता देख लो। किसीकी अरथीको कन्धा दिया होगा तो, उन्हें भी कन्धा देनेवाले मिलेंगे। वर्ना झल्लीवालोंसे लाश उठवानी पड़ेगी।"

और सचमुच उनका कहा सत्य हुआ।

मुहल्लेके दो-चार रईसोंकी आदत थी कि मुर्दनीमें साथ न जाकर कारों-ताँगोंसे सीधे श्मशान घाट पहुँच जाते थे। न अरथीको कन्धा देते न हाथ लगाते थे। उनका यह व्यवहार लोगोंको खटकता तो था, परन्तु कहनेका साहस नहीं होता था। एक रोज़ उक्त बुज़ुर्ग उन्हें सुनाकर कहने लगे, "भाई, अबकी इनके यहाँ किसीकी मौत हुई तो हम भी टैक्सीमें श्मशान घाट आयेंगे।"

तबसे उन रईसोंने मोटरों-ताँगोंमें श्मशान घाट जाना छोड़ा।

४ अक्टूबर १९५५ ई०


जो सुना

साँझ-सकारे अँधेरे-उजारे बैठते-उठते आते-जातोंसे
जो सुना

दोज़ख़में भी फ़रिश्ते

पं० उग्रसेन गोस्वामी रावलपिण्डी इलाक़ेके सैयद क़सरा क़सबेके रहनेवाले हैं। वे आठ-दस वर्षसे डालमियानगरमें रहते हैं, किन्तु भारत-विभाजनसे पूर्व उनका समूचा परिवार पाकिस्तानमें ही था। साम्प्रदायिक उपद्रवोंमें उनकी भरी-पूरी ज़मींदारी उजड़ गयी। गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ धूल-धूसरित हो गयीं। बाग़ी-बग़ीचोंपर दूसरोंके क़ब्ज़े हो गये। ख़ैरियत यह हुई कि उनका परिवार सैयद क़सरामें न होकर पाकिस्तानी अन्य सुरक्षित इलाक़ेमें था।

यह मार्च १९४७ की घटना है। तबतक पाकिस्तानके निर्माणकी कोई निश्चित रूप-रेखा नहीं थी। लोग यही समझते थे कि यह एक आकस्मिक आँधी है, इसके शान्त होते ही फिर पूर्ववत् हिन्दू-मुसलिम रहने लगेंगे।

साम्प्रदायिक उत्पातोंका वेग तनिक शान्त हुआ तो गोस्वामीजी अपने बड़े भाईके साथ अपने उजड़े आशियानेको देखनेकी इच्छासे छद्मवेषमें गये। जानेका प्रबल कारण एक यह भी था कि भानजी एवं भतीजियोंकी शादीके लिए माँने कुछ सोना गुप्त स्थानमें गाड़ रखा था। उसीकी खोजमें अनेक जोखिम उठाकर ये वहाँ पहुँचे। क़सबेके स्टेशनपर दिनके साढ़े दस बजे उतरे तो एक हू का आलम नज़र आया। न पहली-सो रौनक़, न कोई उतरनेवाली सवारी और न ही बाहर ताँगा। सहमे हुए-से स्टेशनसे पैदल ही खेतोंकी पगडण्डी होते हुए गाँवको रवाना हुए। रास्तेमें दोनों ओर पके हुए गेहूँकी बालियोंसे ऐसा मालूम हो रहा था, गोया खेत सोना उगल रहे हैं। जिस फ़सलको काटनेके लिए किसानोंकी टोलियाँ होती थीं, उसे देखनेको भी आदमी मयस्सर न थे। औरतोंका उन्मुक्त नृत्य, युवकोंकी

ताल, बच्चोंकी किलकारियाँ तो कुजा, रास्ते-भर आदम मिला न आदमज़ाद, न उसकी गन्ध। मालूम होता था कि किसी फ़क़ीरकी बद्दुआसे सारा इलाक़ा उजाड़ हो गया है। हाँ, कुछ पशु स्वच्छन्द भावसे विचरते नज़र आ रहे थे। जिस इलाक़ेका चप्पा-चप्पा नृत्य करता हुआ-सा दिखाई दिया करता था, उसी इलाक़ेको किसकी नज़र खा गयी कि दोपहरको भी इन्सानकी सूरत देखनेको तरस गये। इसी हौलनाक आलममें चले जा रहे थे कि एक परिचित वयोवृद्ध सामनेसे आता दिखाई दिया तो इन्होंने तपाकसे कहा, "चचा सलाम।"

वृद्धने आँखोंपर हाथ रखकर पहले इन्हें ग़ौरसे देखा, फिर पहचाननेपर सिरकी पगड़ीसे मुँहको छिपाते हुए जवाब दिया, "बेटा, खुश रहो, खुदा तुम्हें सलामत रखे।"

"चचा, हमें देखकर मुँहपर कपड़ा क्यों डाल लिया? क्या हमारी सूरतोंसे इस क़दर नफ़रत हो गयी? हम तो तुम्हारे वही बच्चे हैं।"

"हम तुम्हें मुँह दिखानेके क़ाबिल नहीं रहे बेटे। बक़ौल किसीके,

परदे की और कुछ वजह अहले जहाँ नहीं।
दुनिया को मुँह दिखाने के क़ाबिल नहीं रहे॥

तुम्हारी ग़ैरमौजूदगीमें हिफ़ाजत करना तो दूर, अपनी आँखोंसे उजड़ते हुए देखा किये।

आशियाँ उजड़ा किया, हम नातवाँ देखा किये।

पुश्तैनी राहो-रस्म, इख़लाक़ो-मुहब्बत सब खाकमें मिला डाले, सुरगमें भाई साहब[1] न जाने कितनी लानतें हमको दे रहे होंगे? हम तुम्हें मुँह दिखानेके क़ाबिल अब नहीं रहे।"

"नहीं चचा, ऐसा न फ़र्मायें। हम आपके वही बच्चे हैं, जो आपकी ग़ोदियोंमें खेलकर परवान चढ़े हैं। आप अपना जी हलका न कीजिए।

१. गोस्वामीजीके स्वर्गीय पिता।

हमारे सिरपर सफ़क़्क़तका हाथ फेरिए। आप-जैसे बुजुर्गोंकी दुआसे फिर वही दिन आ जायेंगे। यह तो एक मज़हबी तूफ़ान था, जो आया और निकल गया।"

"आमीन, ख़ुदा तुम्हारे यक़ीनको आन रखे। मगर मुझे तो आसार अच्छे नज़र नहीं आते। जब तमाम कुओंमें ही भंग डाल दी गयी हो, तब जुनून उतरनेकी क्या उम्मीद ?"

किसी तरह बाग़के मालीको पता चला तो उसका जवान बेटा नूरा दौड़ा हुआ आया और अपने आक़ाओंको देखकर टप-टप रोने लगा। उसे पुचकारकर गोस्वामीजीने अपने आनेका कारण बताया तो वह बोला, "आप कहीं छिपकर बैठ जाइए, न जाने कब डोगरा सैनिक आ निकलें। न वे हिन्दू देखते हैं न मुसलमान। जिसे घूमता पाते हैं, गोली मार देते हैं। मैं झुटपुटेके क़रीब कुदाल लेकर आऊँगा, तब आपकी बतायी जगह खोदूँगा, आप कहीं छिपकर दूर बैठे रहें।"

दो-तीन घण्टेकी खुदाईपर सोना निकला तो नूराने दूर छिपे गोस्वामीजी-के क़दमोंमें हाँफते-हाँफते सोना रख दिया।

चलते वक़्त उसे दसका नोट देने लगे तो नूरा सहमकर बोला, "हुज़ूर, यह क्या ?"

"यह बच्चोंकी मिठाईके लिए है।"

"हमारे बच्चे क्या दस-दस रुपयेकी मिठाई खाते हैं, हुज़ूर ? हम तो आपके वही पुराने गुलाम हैं। दुनिया चाहे बदल जाये, मगर हम नहीं बदलनेके। हमारी रगोंमें हुज़ूरका नमक मौजें मार रहा है ?"

"बरखुरदार, हम तुम्हें वही अपना नूरा समझते हैं। अगर ग़ैर समझते तो यहाँ क्यों आते ? और इतना क़ीमती ज़ेवर तुमसे निकलवानेकी हिम्मत कैसे करते ? जब कि अब हाथको हाथ खाये जा रहा है ?"

"नहीं हुज़ूर, आप हमें ग़ैर समझकर ही मजदूरीके ऐवज़ दे रहे हैं।

यूँ आप आक़ा हैं, जो भी दिया है चुचकारकर सिर-आँखोंसे हमेशा लगाया है। मगर इस वक़्त कुछ न लेंगे। हम तो मारे ग़ैरतके मरे जा रहे हैं कि अपने आक़ाके मालो-असबाबकी हिफ़ाज़त न कर सके।'' कहते-कहते नूरा फूट-फूटकर रो पड़ा। नूराको रोते देख, गोस्वामी-बन्धुओंका भी जी भर आया। उन्होंने नूराको कलेजेसे लगा लिया और उस रोज़ पहली बार स्वामी-सेवक गलेसे मिले।

गोस्वामीजीके बाल-सखा 'कसरा' साहबके अक़सर पाकिस्तानसे पत्र आते रहते हैं। एक पत्र उनमें-से नीचे दिया जा रहा है। कसरा साहब उर्दूके ख्यातिप्राप्त शाइर और लेखक हैं। बड़े नेक सहृदय मुसलमान हैं। डालमियानगरमें भारत-विभाजनसे पूर्व एक बार तशरीफ़ लाये थे; तब उनकी पत्नीका देहान्त हुए सिर्फ़ चार रोज़ हुए थे। फिर भी मेरे यहाँ बच्चेकी वर्षगाँठमें सम्मिलित हुए। मुबारकबादी-ग़ज़ल पढ़ी। रातके बारह-एक बजे तक शेरो-शाइरीका दौर चला, परन्तु यह आभास तक न हो सका कि आपपर पत्नी-वियोगका पहाड़ टूट पड़ा है। उनके जानेके बाद ही उक्त घटनाका पता चला। ऐसा वज्र-हृदय मनुष्य भी पंजाबका रक्त-काण्ड देखकर रो उठा। आपका पत्र,

मुहब्बिये दिलनवाज़ जनाब गोस्वामी साहब,

यह खत क्यों भेज रहा हूँ, कुछ न पूछिए। मैंने सैयदके हालात सुने हैं, अभी गया नहीं। लेकिन जो कुछ सुना है, वह इतना है कि मैं और आप अपने हमवतनोंकी रजालत, मज़हबी दीवानगी और दरिन्दगीकी वजह-से कभी किसी मोअजिज्ज़ शख्सके सामने शर्मिन्दगीसे सिर नहीं उठा सकेंगे। एक दीवानगीका सैलाब था, जो आया और रास्तेमें जो कुछ भी मिला उसे बहाकर ले गया। गांवके एक-एक मकानको जलाया गया। स्कूलको ख़ाकिस्तर कर दिया। यह नहीं सोचा कि आइन्दा बच्चोंकी तालीमका क्या

होगा ? चीज़ मिटायी तो आसानीसे जा सकती है, लेकिन बनाना मुश्किल होता है। फिर इस क़िस्मके इदारे, जिसमें हर क़ौम, हर मज़हबके बच्चे अपने मज़ाक़ और क़ाबिलियतके मुताबिक़ फ़ायदा उठा सकते हैं। इनको मिटाना एक ऐसा गुनाह है, जिसको कोई माफ़ नहीं कर सकता।

रावलपिण्डी, जेहलम, कैमलपुर-जैसे अज़ला, जहाँ अहले हुनूद और सिक्ख भाइयोंकी तादाद कम है। आह! इस अक़लियतको किस तरह बरबाद किया गया। ऐसा ज़ुल्म तो किसी बड़ेसे-बड़े ज़ालिम बादशाहने भी मख़लूक़े-ख़ुदापर नहीं किया। चंगेज़ और हलाकू फ़साने बनकर रह गये। इस तरक़्क़ीके ज़मानेमें यह बरबरीयत? या अल्लाह! ख़ुदाकी पनाह, दिल नहीं चाहता कि ऐसे मुल्कमें रहें। यह मुल्क दरिन्दोंका मुल्क है। इन्सानियतकी क़ीमत यहाँ कुछ भी नहीं। जज़्बए-शराफ़त नापैद और कारे-रज़ालत अनगिनत। अब कैसा सलाम और कैसी दुआ? मिलें भी तो कैसे मिलें? वे सिलसिले ख़त्म हो गये। वे दिन जाते रहे। इन्सानियत बदल गयी। मेरे भाई, मैं आपसे निहायत शर्मिन्दा हूँ कि मेरी क़ौमने दरिन्दगीका वह मज़ाहिरा किया, जिसके लिए मेरा सिर हमेशा नीचा रहेगा।

—गुलामहुसैन कसरा मिनहास

२ जून १९५५ ई०

जीते-जी तेरहवीं

ऐक्ज़ीक्यूटिव ऑफ़िसर साहबकी कोठीमें कुटुम्बियों, रिश्तेदारों और इष्ट-मित्रोंका ताँता लगा हुआ है। आज उनके पिताकी तेरहवीं है। इसीलिए सब लोग एकत्र हुए हैं, परन्तु ऐक्ज़ीक्यूटिव साहब हैरान हैं कि यह मामला क्या है? पन्द्रह-बीस रोज़ हुए जब (माता-पिता) यहाँ कोठीमें रहनेकी नीयतसे आये ही थे। श्रीमतीजीने उनको अन्दर नहीं घुसने दिया और दरबानसे बाहर निकलवा दिया। तब वे कहाँ जाकर कब और कैसे मर गये, मुझे पता तक नहीं, फिर इन सबकी सूचना किसने दी? अजीब गोरखधन्धा है!"

ऐक्ज़ीक्यूटिव साहब दम-ब-खुद बने इस तरह बैठे हैं, जैसे उन्हें साँप सूँघ गया है। लोग-बाग समझ रहे हैं कि पिताकी मृत्युका आघात मर्मान्तक हुआ है। अतः उन्हें धैर्य बँधानेका प्रयास कर रहे हैं,

"ऐक्ज़ीक्यूटिव साहब, अब तो सब्र करनेसे ही काम चलेगा, आप खुद समझदार हैं।"

"हाँ साहब, यूँ आपा बिसारिएगा तो ये फूल-से बच्चे कुम्हला जायेंगे"

"आप ही जब धीरज खोये दे रहे हैं, तब बहूरानी तो रो-रोकर हलकान हो जायेंगी।"

"यूँ तो साहब उनकी उम्र इतनी हो गयी थी कि माताएँ अपने बच्चोंके लिए भी इतनी उम्रकी दुआएँ माँगें, मगर दस-पाँच साल और बैठे रहते तो अच्छा था। बुजुर्गोंका साया जितनी देर बना रहे उतना ही बेहतर।"

"मगर साहब, ऐसी मौत हर किसीको नसीब हो। जिसके श्रवण-कुमार-जैसा पुत्र, लक्ष्मी-जैसी पतोहू, लव-कुश-जैसे पौत्र हों, धार्मिक परोपकारी जीवन, स्वस्थ देह, हरदिल अज़ीज़, ख़ूब कमाया, ख़ूब लुटाया, कभी नाकपर मक्खी न बैठने दी, और चलते हाथ-पाँव शरीर छोड़ दिया, यह भाग्यसे ही नसीब होता है।"

"वे इन्सान नहीं, फ़रिश्ते थे।"

"तभी तो इन-जैसा सपूत उन्हें नसीब हुआ।"

"आपने उनकी सेवा भी ख़ूब की।"

"अरे साहब, हक़ अदा कर दिया, पुत्र हो तो ऐसा हो।"

"उनकी एक-एक बात याद आ रही है। क्या पुरानी वज़अ-क़तअ़के बुज़ुर्ग थे।"

"ऐक्ज़ीक्यूटिव साहबकी शिक्षा-दीक्षामें औक़ातसे ज़्यादा ख़र्च किया।"

"और आपकी शादीमें पानीकी तरह रुपया बहाया, ऐसा दिलवाला आदमी हमने और नहीं देखा।"

इन समवेदना एवं सहानुभूति-सूचक वाक्योंका सिलसिला न जाने कबतक चलता कि एक चीख़से सबके-सब भौंचक-से हो गये। एकने कोठीके सदर दरवाज़ेको तरफ़ देखा तो देखता ही रह गया। दूसरे लोग भी आँख फाड़-फाड़कर देखने लगे। एक-दो भूत-भूत चिल्लाते हुए कोठीके अन्दर बेतहाशा भागे। एक-दोको ग़श आ गया। कुछ साहस बटोरकर सदर दरवाज़ेपर गये तो उनके आश्चर्यकी सीमा न रही। वे विस्फारित नेत्रोंसे वहाँ खड़े हुए मनुष्यको देखने लगे। दाढ़ी बढ़ी हुई, कमर झुकी हुई, लाठी-का सहारा लिये, फटे चिथड़ोंमें मलबूस ऐक्ज़ीक्यूटिव ऑफ़िसरके पिता लाला रुलियाराम खड़े थे। इन सबको आश्चर्यचकित अपनी ओर ताकते देखकर उन्होंने कहा,

"आप मुझे आँखें फाड़-फाड़कर क्या देख रहे हैं ? ऐक्ज़ीक्यूटिव ऑफ़िसर साहबका बाप सचमुच मर गया है । मैं तो रुलियारामका कंकाल मात्र हूँ । आप सबको मालूम ही है कि इसकी हक़ीक़ी माँ इसको जन्म देते ही मर गयी थी । इसीके लालन-पालनके लिए मैंने दूसरी शादी की और उस भाग्यवान्ने जिस लाड़-प्यारसे इसका लालन-पालन किया, क्या हक़ीक़ी माँ करेगी । छल्ला-छल्ला बेचकर अपना पेट काटकर उसने इसे पढ़ाया । इसकी हर ज़िद पूरी की । यह इतना बड़ा ऑफ़िसर बन गया, तब भी उसने कभी एक पैसा लेनेकी इच्छा नहीं की । हमेशा यही कहती रही कि उनके खाने-पहननेके दिन हैं । मज़े करने दो । हमारा क्या है पेड़के पात हैं, गुज़र-बसर चल ही रही है । मगर पाकिस्तान बन जानेसे मजबूरन लुट-पिटकर लाहौरसे यहाँ आना पड़ा । सोचा था आख़िरी उम्रमें बेटेके पास रहेंगे और वहीं कोई-न-कोई रोज़गार भी कर लेंगे । मगर कोठीमें घुसते ही हमें बहूरानीने बाहर निकलवा दिया । लाचार शरणार्थी कैम्पमें जाना पड़ा । फिर मुझे ख़याल आया कि बेटेकी मुहब्बत, तो देख ली, अब कुटुम्बियों और रिश्तेदारोंको भी ज़रा परख लूँ । जिसने जीते-जी मुझे पानी तकको न पूछा, वह मरनेके बाद ख़ाक क्रिया-कर्म करेगा ? इसी ख़यालसे स्वयं अपनी मृत्युके आपको पत्र लिखे, ताकि अपने जीते-जी अपनी तेरहवीं देख लूँ । फिर कौन मेरी तेरहवीं करेगा ?"

ऐक्ज़ीक्यूटिव साहबको काटो तो ख़ून नहीं । निर्जीव-से खड़े रहे । रुलियाराम उलटे पाँव लाठी टेकता कैम्पको लौट गया । लाख ख़ुशामद करनेपर भी कोठीके अन्दर पाँव नहीं रखा ।

१० नवम्बर १९५१ ई०

अनुशासन-परीक्षा

जेलोंके नियमानुसार शामको किसी शहरका एक सांकेतिक नाम निश्चित कर दिया जाता है; ताकि कोई भी व्यक्ति छद्मवेशमें वहाँ आ-जा न सके। जिन अधिकारियों, कर्मचारियों और सन्तरियोंकी रातको डयूटी लगायी जाती है, उन्हें निश्चित संकेत चुपचाप बतला दिया जाता है, ताकि वे पहरेवाले सिपाहीको बताकर आ-जा सकें।

मियाँवाली जेलमें एक रात वहाँके जेल-सुपरिण्टेण्डेण्ट निरीक्षण करते हुए घूम रहे थे। हर सन्तरीको उस रोज़का निश्चित शब्द बतलाते हुए बढ़ रहे थे कि एक सन्तरीको उन्होंने ग़लत संकेत बताया तो सन्तरी बा-आवाज़ बुलन्द कड़ककर बोला, "ख़बरदार, आगे न बढ़ना, वर्ना गोली मार दूँगा।"

जेल-सुपरिण्टेण्डेण्टको इतनी बरदाश्त कहाँ कि वह एक अदना सन्तरीसे ऐसे अल्फ़ाज़ सुन सके। चट सीटी बजा दी। जिसे सुनते ही जेलके केन्द्र-से घड़ियाल ध्वनित हो उठा। घड़ियालकी आवाज़ कानोंमें पड़ते ही जो सिपाही जिस स्थितिमें था, उसीमें भागा हुआ मौक़ेपर पहुँच गया और साहबके आदेशपर उक्त सन्तरी गिरफ़्तार कर लिया गया।

इस मुक़दमेका निर्णय करनेके लिए पंजाबकी समस्त जेलोंका सर्वोच्च अधिकारी आई० जी० आया। अदालतमें सन्तरी हाज़िर किया गया। दोनों तरफ़से बयान लेनेके बाद आई० जी० मुजरिमसे यूँ मुख़ातिब हुआ,

"तुमने बहुत बड़ा क़ुसूर किया है, यह साबित होनेपर भी तुम्हारी पुरानी खिदमतोंका ख़याल रखते हुए तुम्हें माफ़ किया जा सकता है।

बशर्ते कि अपनी बेअदबीके लिए तहरीरी माफ़ी माँगो और आइन्दाके लिए नेकचलनी और वफ़ादारीका हलफ़ उठाओ। वर्ना छह माहकी सख्त सज़ा सुननेके लिए तैयार रहो।"

सज़ाका नाम सुना तो सन्तरीका कलेजा काँप गया। किसी तरह वह अपनेको सँभालकर दृढ़तापूर्वक शान्त स्वरमें बोला,

"हुज़ूर, मैंने कोई क़ुसूर नहीं किया है, जिसके लिए माफ़ी माँगूँ।"

"अपने आला अफ़सरको गोली मारनेके लिए तैयार हो जाना, तुम्हारी नज़रोंमें कोई क़ुसूर नहीं?" आई० जी०ने ओठ चबाते हुए पूछा।

"गुलामकी ताक़त नहीं जो डयूटीके अलावा उनकी तरफ़ आँख भरकर भी देख सके। कहाँ उनका जाहो-जलाल, कहाँ यह ज़र्र-ए-नाचीज़। मगर डयूटी डयूटी है। उन्हींका यह फ़रमान था कि डयूटीमें कभी हर्फ़ न आने पाये।" सन्तरीने निहायत इंकसारीसे अर्ज़ किया।

"मगर तुम्हें अपने अफ़सरके रुत्बेका तो पास होना ही चाहिए था। अफ़सर कोई ग़लती करे तो भी अफ़सर है। अच्छा तुम तहरीरी माफ़ी न माँगो। आइन्दा इस तरहकी हरकत न करनेके वादेपर माफ़ किये जा सकते हो।"

"यह आपकी ग़रीबपरवरी है बन्दानवाज़, मगर मैं इस माफ़ीको अपने लिए बाइसे-ज़िल्लत समझता हूँ। क़ानून क़ानून है, उसकी ज़दसे अफ़सरो-मातहत कोई नहीं बच सकता।"

"मैं देख रहा हूँ तुम्हें अपनी इस हरकतपर ज़रा भी मलाल नहीं है। बल्कि इस तरह समझे हुए हो कि गोया तुमसे बहुत बड़ा कारनामा सरज़द हुआ है।"

"बेशक हुज़ूर, मुझे अपनेपर नाज़ है, कि मैंने लम्हे-भरको अपनी डयूटीमें कभी ग़फ़लत नहीं की।"

बा-मशक़्क़त छह माहकी सज़ा सुनाकर अदालत उठ गयी। बेचारा सन्तरी जेलके सीखचोंमें बन्द कर दिया गया। उसकी बूढ़ी माँ, बीमार पत्नी, मरगिल्ले बच्चे बिलख-बिलखकर रोने लगे। दोस्त उसकी ज़िदपर हाथ मलते रह गये। कुछ ऐसे भी हितैषी थे जो उसकी पत्नी और क्वार्टर-के बारेमें ख़याली पुलाव पकाने लगे।

थोड़ी देर बाद आई० जी० और सुपरिण्टेण्डेण्ट सन्तरीकी कोठरीमें पहुँचे। वहाँ भी उसे जब दृढ़ पाया तो उसकी पीठ थपथपायी और उसकी क़मीज़पर हवलदारीका बिल्ला लगा दिया।

यह सब अभिनय जेल-सुपरिण्टेण्डेण्टने अनुशासनके परीक्षणके लिए किया था, जिसमें उक्त सन्तरी खरा निकला।

१५ मार्च १९५५ ई०

अनुशासन-प्रियता

सन् १९१६ या १८ की बात है, दिल्लीमें कांग्रेसका अधिवेशन हो रहा था। रायबहादुर सुलतानसिंह जैन स्वागतकारिणीके मुख्य कार्यकर्त्ता थे। कार्यकारिणी समितिकी बैठक चल रही थी। उसमें चुने हुए विशेष व्यक्ति ही जानेके अधिकारी थे। बहुत सावधानीपूर्वक पण्डालके मुख्य द्वारपर प्रवेश-पत्रका निरीक्षण किया जा रहा था। तभी रायबहादुर अन्दर जानेको उद्यत हुए तो स्वयंसेवकोंने प्रवेश-टिकिट देखनेको हाथ बढ़ाया। रायबहादुर इधर-उधरकी जेबोंमें खोज ही कर रहे थे कि पास ही खड़े हुए अधिकारियोंने आपको देख लिया। वे स्वयंसेवकको लानत-मलामत करते हुए आपको हाथों-हाथ पण्डालमें ले गये और स्वयंसेवककी इस असभ्यताके लिए बार-बार खेद प्रकट करने लगे।

उधर रायबहादुर खिन्न होनेके बजाय मुस्करा रहे थे। उन्होंने पण्डालमें जाते ही उस स्वयंसेवकको बुलाकर मंचसे उसकी खूब सराहना की और एक स्वर्णपदक भेंट किया। रायबहादुरकी अनुशासन-प्रियताको देखकर उपस्थित नेता पुलकित हो उठे।

रायबहादुर सुलतानसिंह दिल्लीके प्रतिष्ठित और जनप्रिय ऐसे नागरिक थे, जिनपर हर देहलवीको नाज़ था। ज़ाहिरमें उनके साथ सरकारी उपाधि चिपकी हुई थी, किन्तु अन्तरंगमें वे खरे देशभक्त थे। उनके यहाँ वाइसराय, चीफ़ कमिश्नर और राजा-महाराजा भी अतिथि रूपमें आते रहते थे, और देशके सर्वोच्च नेता—महात्मा गान्धी, पं० मोतीलाल नेहरू, सरोजनी नायडू आदि जब-जब देहली तशरीफ़ लाते, उन्हींके यहाँ क़याम

फ़र्माते थे। उन्हींके यहाँ कांग्रेस-वर्किङ् कमेटीकी बैठकें होतीं और उन्हीं-के यहाँ अँगरेज़ी सरकारसे लोहा लेनेके दाव-पेच सोचे जाते थे।

१५ मार्च १९५५ ई०

विपत्तिमें धैर्य्य

क़रीब अठारह-बीस वर्ष पूर्वकी घटना है कि एक वैश्य-पुत्रके विवाहो-पलक्ष्यपर प्रीति-भोज हो रहा था। आगन्तुक ऊपर छतपर जीम रहे थे कि नीचेके एक कमरेमें किसी कामसे स्वयं दूलहा आया और वहाँकी बिजली खराब देखकर किसी औरको कहनेकी बजाय जल्दीमें स्वयं ठीक करनेलगा। वक़्तकी बात सहसा उसे करेण्ट लगा और वह आनन-फ़ाननमें समाप्त हो गया। थोड़ी देरमें किसी कामसे उसी कमरेमें उसके पिता पहुँचे तो लड़केको मरा हुआ पाया। देखते ही हतप्रभ हो गये। इकलौता लड़का यूँ बेमौत मर जाये, और वह भी ऐसे अवसरपर ? फिर भी उनकी चेतना मरी नहीं। चुपचाप दरवाज़ेका ताला लगाकर बाहर निकल आये और पूर्ववत् आने-जानेवालोंके स्वागत-सत्कारमें लग गये। ताकि किसीके आनन्द-में विघ्न न पड़े। उनके हृदयका क्रन्दन बाहर न सुनाई दिया।

प्रीतिभोज समाप्त हुआ तो पुत्रकी ममतावश फिर कमरेमें गये और लाशसे लिपटकर सदैवको सो गये। जब परिवारवाले भोजन करनेके लिए बैठने लगे तो उन बाप-बेटोंकी खोज हुई। जिसने वह दृश्य देखा सिर पीट लिया।

१६ जून १९५५ ई०

पूर्वभवका बैर

दिसम्बर १९५२ की बात है, मैं कानपुर अपने एक अज़ीज़से मिलने गया था। उन्हींके यहाँ श्री निर्मलकुमार जैनसे परिचय हुआ। वे उन दिनों बी० कॉमके अन्तिम वर्षमें थे। मेरे अजीज़के यहाँ अकसर आया-जाया करते थे। मालूम हुआ कि वे कुछ वर्ष पहले काफ़ी बीमार रहे हैं, और सौभाग्यसे ही समझिए मौतके मुँहसे निकले हैं। मेरे आग्रहपर उन्होंने जो घटना सुनायी, सुनकर स्तम्भित रह गया। विश्वास करनेको जी नहीं चाहता था; परन्तु यही बात उनकी माँ-बहनोंसे हमारे अज़ीज़ पहले भी सुन चुके थे। परस्पर दोनों परिवारोंमें स्नेह-सम्बन्ध था। आदमी भी भद्र, धर्मनिष्ठ और कुलीन थे। झूठ बोलनेकी न कोई वजह हो सकती थी, न वे लोग इस तरहके थे।

हाँ, तो निर्मलकुमार साहबने संक्षेपमें अपनी बीमारीके बारेमें ज़िक्र किया,

"मुझे १९३९ ई० में विषबेल हुई थी। वह किसी तरह ठीक हुई तो १९४२ में मेरी कमरकी पसलीकी हड्डीमें फोड़ा हो गया और मेरी हड्डियाँ रुधिर-पीपसे बराबर रिसने लगीं। डॉक्टरोंने हड्डीकी टी० बी० निर्धारित की। पाँच-छह माह मैं टी० बी० हस्पतालमें पड़ा रहा, किन्तु रोग उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। जब मैं जीवनसे क़तई निराश हो गया और मृत्यु आनेकी कामना करने लगा, तभी किसीसे पिताजीको विदित हुआ कि ग्वालियर-राज्यमें भिण्ड-ज़िलेसे सात मील दूर बरोही नामके गाँवमें बाबा रामदास पुजारी थाली बजाकर इस रोगका उपचार करते हैं।

माँ-बापका इकलौता लड़का, बेचारे ममताके मारे मुझे वहाँ ले गये। गाँवमें पहुँचे तो हमसे पूर्व पहुँचे हुए कई रोगियोंपर थाली बजायी जा रही थी। अतः एक झोंपड़ीमें रहकर हमें पन्द्रह रोज़ तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। नम्बर आनेपर मेरे लिए थाली बजी। क़रीब दो माह तक रोज़ाना थाली-का प्रयोग चलता रहा। आखिर मुझमें-से एक साँप बोला। जिसका आशय यह था, "हम (साँप और रोगी) दोनों सगे भाई थे। अमुक गाँवमें अमुक ठाकुरके लड़के थे। इसने मुझे क़त्ल कर दिया। मैं मरकर साँप हुआ और मैंने प्रतिहिंसाके वश इसे डस लिया। यह मरकर फिर कानपुरमें उत्पन्न हुआ। मगर मेरा क्रोध शान्त नहीं हुआ। अतः मेरे ही ज़हरके परिणामस्वरूप पहले विषबेल गरदनमें हुई। फिर वही पसलियोंमें उभरी। लाख प्रयत्न कीजिए मैं इसे सड़ा-सड़ाकर मारूँगा।"

बेचारे बाबा रामदासके काफ़ी प्रयत्नके बाद साँप क्षमा करनेको मजबूर होते हुए बोला, "अच्छा, मैं इसे क्षमा किये देता हूँ। प्रायश्चित्तस्वरूप उस गाँवमें मेरे नामका एक मठ बनवाना होगा, चार गायें दान करनी होंगी और दो सौ ब्राह्मणोंको भोजन देना होगा।"

उक्त शर्तकी पूर्तिके बाद मैं चंगा हो गया। न कहीं टी० बी० रही, न कहीं विषबेल। दस वर्षसे आँख दुखनी भी नहीं आयी।"

उपस्थित श्रोताओंने एक साथ पूछा, "क्या आप लोग उस गाँवमें भी पता लगाने गये थे?"

"हाँ, पिताजी गये थे और दरियाफ़्त करनेपर उक्त घटना सत्य निकली।"

१७ मार्च १९५५ ई०

पतिव्रता चिड़िया

बारह मार्च १९३१ की प्रातःकालका सुहावना समय था। हम सब 'सी' क्लासके राजनैतिक क़ैदी मौण्टगुमरी जेलमें बैठे हुए बान बट रहे थे। अनुमानतः आठ बजे होंगे कि एक चिड़ियासे एक चिड़ा अकस्मात् लड़ता हुआ देखा गया। चिड़ा उससे बलात्कार करना चाहता था, किन्तु चिड़िया जानपर खेलकर अपनेको बचा रही थी। सफल-मनोरथ न होनेके कारण क्रोधावेशमें चिड़ाने चिड़ियाकी गरदन झकझोर डाली, जिससे उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। मरनेपर चिड़िया ऊँची दीवारसे ज़मीनपर आ पड़ी। हम सब कौतूहलवश अपना काम छोड़कर उसके चारों ओर खड़े हो गये। एक-दो मिनिटमें ही एक और चिड़ा वहाँ आया और हमारे पाँवोंमें पड़ी चिड़ियाको बड़ी आतुरता और बेक़रारीके साथ सूँघने लगा। वह हटायेसे भी नहीं हटता था। उसकी वह तड़प कठोर हृदयोंको भी तड़पा देनेवाली थी। मालूम होता था कि यह चिड़ा ही उस चिड़ियाका वास्तविक पति था। वह इतना शोकाकुल था कि उसे हमारा तनिक भी भय नहीं था। हम इस कौतूहल या आदर्श प्रेमको देख ही रहे थे कि जेल-सुपरिण्टेण्डेण्ट और जेलर साहब भी वहाँ तशरीफ़ ले आये। उन्होंने सुना तो उनके नेत्र भी सजल हो आये। मरी हुई चिड़ियाको देख-देखकर चिड़ा कहीं दम न दे बैठे, इस ख़यालसे चिड़ियाको उठाकर उसकी नज़रोंसे ओझल कर दिया गया। तब वह चिड़ा और भी बेचैनीसे इधर-उधर घूमने लगा। उसके भाग्यसे चिड़ियाके दो छोटे-छोटे पर वहाँ गिर पड़े थे। अन्तमें लाचार होकर स्मृतिस्वरूप उन परोंको ही उठाकर उस घोसलेमें ले गया, जहाँ कभी वे प्रेमसे दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करते थे। जिस तरह वह चिड़ा

तड़पता हुआ हमारे पाँवोंमें घूम रहा था, ठीक इसके विपरीत दूसरा कामातुर घातक चिड़ा दीवारपर बैठा हुआ भयभीत हुआ-सा हमारी ओर देख रहा था। मरी हुई चिड़ियाके पास आनेकी उसकी हिम्मत नहीं होती थी। बात है भी ठीक, एक प्रेमी, जिसका हृदय प्रेमसे ओत-प्रोत है, अपने शत्रुके पास भी निःशंक चला जाता है और जिसके हृदयमें पाप है, वह सब जगह भयभीत रहता है।[1]

७ जनवरी १९३३ ई०

१. यह संस्मरण 'गहरे पानी पैठ'में छपा था, किन्तु उसके द्वितीय संस्करणमें वहाँसे निकालकर प्रसंगवश यहाँ दिया जा रहा है।

ब्रह्मचारिणी गाय

मौण्टगुमरो जेलमें रात्रिको सब कार्योंसे निश्चिन्त होकर बैठे तो दिन-में हुई चिड़ियाकी घटनाको लेकर सदाचारी पशुओंकी चर्चा चल निकली। बातोंके सिलसिलेमें पं० रामस्वरूपजी राजपुरा (जींद स्टेट) निवासीने—जो कि दफ़ा एक सौ इकतीसमें तीन वर्षकी सज़ा लेकर आये थे—अपने आँखों देखे प्रत्यक्ष अनुभव सुनाये, जो कि मैंने कौतूहलवश उसी समय नोट कर लिये थे। उन्होंने बतलाया कि हमारे गाँवसे बारह कोस दूरीपर गुराना गाँव है। वहाँ एक मनुष्यकी गायने एक साथ दो बछड़े प्रसव किये। उसके बाद वह गर्भवती नहीं हुई। उसे कामोन्मत्त करनेके लिए कितनी ही दवाइयाँ खिलायी गयीं, किन्तु उसे कामेच्छा नहीं हुई। जब उसे ज़रूरतसे ज़्यादे तंग किया गया, तो वह अपने मालिककी क्वारी लड़कीको स्वप्नमें दिखाई दी और कहा कि मुझे कामोत्पादक चीज़ें न खिलायें और न बिजारके पास ले जायें, मैं अब ब्रह्मचारिणी हो रहना चाहती हूँ। और यदि मुझे अब तंग किया गया तो मैं कुएँमें गिरकर प्राण दे दूँगी। लड़कीने स्वप्नका ज़िक्र किया तो सब हँसने लगे और अपना प्रयत्न चालू रखा। अन्तमें गायने कुएँ-में गिरकर प्राण छोड़ दिये। तब लोगोंने गायके ब्रह्मचर्यव्रतको समझा।

७ जनवरी १९३२ ई०

भ्रातृ-प्रेम

पं० रामस्वरूपजीने आगे कहा,

"इसी गायके दो जुगलिया बछड़े जो अभीतक जीवित हैं। एक हज़ार रुपयेमें भी उसके मालिकने नहीं बेचे। उन दोनों बैलोंमें अटूट प्रेम है। एक साथ खाते-पीते, उठते-बैठते हैं और आश्चर्य तो यह है कि गोबर और पेशाब भी एक साथ करते हैं। यदि दोनोंको अलग कर दिया जाये तो न खाना ही खायेंगे और न किसी अन्य बैलके साथ गाड़ी या हलमें चलेंगे। यदि एकके नीचे ज़मीन गीली है तो सूखी ज़मीनवाला बैल भी खड़ा रहेगा। यदि अलग-अलग पानी या खाना दिया जाये तो वह सूँघेंगे भी नहीं। एक ही बरतनमें होगा तो दोनों साथ मिलकर खायें-पीयेंगे। इन बैलोंका भ्रातृ-प्रेम देखकर लोग हैरान होते हैं।"

७ जनवरी १९३३ ई०

कृतज्ञता

इसी प्रसंगमें पं० रामस्वरूपजीने एक घटना यह भी सुनायी,

"हमारे गाँव राजपुरासे एक कोसके फ़ासलेपर ओड़ (ख़ानाबदोश) ठहरे हुए थे। उस गिरोहमें एक युवकके पास कुत्ता था। युवक सो रहा था कि अचानक बावले गीदड़ने आकर उसे काट लिया। कुत्तेने देखा तो युवककी काटी हुई जगहसे वह थोड़ा-सा मांस काटकर ले गया, ताकि पागलपनका असर युवकके रक्तमें न दौड़ जाये। कुत्तेकी इस दूरदर्शिता-को वह मूर्ख युवक न समझा। उसने सोचा, गीदड़से बचाना तो दूर, उलटा मेरा ही गोश्त काटकर ले गया। ऐसे कुत्तेको मार देना ही अच्छा है। यह सोचते हुए क्रोधावेशमें कुत्तेको इतनी ज़ोरसे लाठी मारी कि वह अचेत होकर गिर पड़ा। कुत्तेको छोड़कर ओड़ लोग उस युवकको जींद स्टेटके शिफ़ाख़ानेमें ले गये। तब डॉक्टरने बतलाया कि यदि उस ज़हरीले गोश्तको कुत्ता न बकोटता तो इलाज होना नामुमकिन था। यहाँ आते-आते गीदड़का ज़हर पूरा काम कर गया होता। वह कुत्ता अचेत पड़ा हुआ था। मेरे बड़े भाई-चंद्रदत्त उधरसे जा रहे थे कि उन्होंने कुत्तेका वृत्तान्त सुना तो वे उसे गाड़ीमें रखकर अपने यहाँ ले आये और दवा-दारू करके उसे अच्छा कर लिया।

उन्हीं दिनों हमारे गाँव राजपुरामें एक भैंसा मरखना हो गया था, वह जिस खेतमें चाहता घुस जाता और खेतका नाश कर देता। यदि उसे कोई ललकारता तो आवाजकी सीधमें जाकर पहले ललकारनेवालेको मारता, फिर खेतमें जाकर चरता। उसके इस उपद्रवसे गाँव-भरमें आतंक-

सा छा गया। धार्मिक रूढ़ियोंके कारण गाँववाले उसे बन्दूक़ वग़ैरहसे मारना चाहते नहीं थे और लाठियोंकी मारसे वह वशमें आता नहीं था। बड़ी परेशानीमें गाँववाले पड़े हुए थे। एक रोज़ वह हमारे खेतमें घुसा तो भाईने जवानीके जोशमें उसे ललकारा, वह लाल-लाल आँखें किये हुए सीधा उनकी ओर दौड़ा। सौभाग्यसे वह कुत्ता भी वहींपर था। कुत्तेने भैंसेको इतने वेगसे आक्रमण करते देख उसकी पीठपर छलाँग मारी और अपने तेज़ दाँतोंसे उसकी गरदनका गोश्त बकोटने लगा। कुत्तेके इस दाँव-के आगे भैंसा आक्रमण करना तो भूल गया, उलटा उसे अपनी ही जानके लाले पड़ गये। इस नागहानी बलासे पिण्ड छुड़ानेकी ग़रज़से वह इधर-उधर भागने लगा। और अन्तमें लाचार होकर वह तालाबमें कूद पड़ा। तब कहीं कुत्तेने उसे छोड़ा। इस घटनाके बाद भैंसा इतना सीधा हो गया कि बच्चोंसे भी कुछ न कहता था। खेद है मेरे भाई, वह कृतज्ञ कुत्ता और भैंसा अब इस संसारमें नहीं हैं।"

७ जनवरी १९३२ ई०

साँपका चमत्कार

सदाचारी पशुओंके सिलसिलेमें सरदार बेलासिंह 'केहर' सम्पादक 'कृपाण' अमृतसरने जो कि एक-सौ इकतीस दफ़ामें एक वर्षके लिए मौण्ट-गुमरी जेलमें आये थे—बतलाया कि हमारे गाँव बिछोह (ज़िला—अमृतसर) में एक बिलोची बुड्ढा ठेठर गाँव (ज़िला—लाहौर) का आकर रहने लगा था। उसका पाँव कटा हुआ था। मैंने कौतूहलवश टाँग कटनेका कारण पूछा तो उसने बतलाया,

"हम ऊँटोंका व्यापार करते थे। हस्बदस्तूर एक रोज़ मैं ऊँटोंको चराने जंगल ले गया तो उनमें-से एक ऊँट मुझे मार डालनेके लिए मेरी ओर लपका।[1] मैं जान बचानेकी ग़रज़से भाग निकला। ऊँट भी मेरा पीछा कर रहा था। मैं उसकी निगाहसे ओझल होनेके लिए झाड़ियोंके एक झुण्डमें घुसा तो वहाँ छिपे हुए कुँएमें गिर पड़ा। उस कुँएमें पानी नाम-मात्रको था। मुझे झाड़ीमें घुसते हुए ऊँटने देख लिया था, अतः वह भी वहीं चक्कर काटने लगा। कुएँमें पड़नेपर ब-मुश्किल मेरे होश-हवास ठीक हो पाये थे कि मुझे वहाँ दो भयानक साँप दिखाई दिये। मारे घबराहटके मेरी घिग्धी बँध गयी। उनमें-से छोटे साँपने बाहर निकलकर उस ऊँटको काट खाया, जिससे वह ऊँट धड़ामसे ज़मीनपर गिर पड़ा। उधर वह

---

१. ऊँट बड़ा कीनावर (वैर-भावको हृदयमें बनाये रखनेवाला) होता है। मालिक या चरवाहेकी डाँट-डपट किसी वक़्त अगर इसे अपमान-जनक मालूम होती है, तो उस वक़्त चुपचाप सहन कर लेता है। मगर भूलता नहीं और अवसरकी तलाशमें रहता है, मौक़ा मिलते ही अपमानकारकको मारकर अपने अपमान या वैरका बदला ले लेता है।

बड़ा साँप भी बाहर निकला और अपने फणको झाड़ीकी एक मज़बूत टहनीमें लपेट पूँछके हिस्सेको मेरे सिरपर हिलाने लगा। पहले तो मैं घबराया, आखिर उसका मतलब समझकर मैं उसकी पूँछ पकड़कर बाहर निकल आया। बाहर आकर मैंने ऊँटको मरे हुए देखा तो गुस्सेमें उसको एक लात मारी। वह ऊँट साँपके ज़हरसे इतना गल गया था कि मेरे लात मारते ही पाँवका थोड़ा हिस्सा ऊँटके गोश्तमें घुस गया। मैंने शीघ्रतासे पाँव निकाल लिया, किन्तु ज़हर बराबर पाँवमें चढ़ रहा था। मेरे भाईने पाँवकी यह हालत देखी तो दराँतीसे मेरी टाँग काट डाली, ताकि ज़हर आगे न बढ़ सके। तभीसे मैं इस पाँवसे लँगड़ा हूँ।"

उक्त उदाहरणोंमें कितना अंश सत्य-असत्य है, मैं नहीं कह सकता। पाठक इन्हें सत्य ही मानें, ऐसा मोह मेरे अन्दर नहीं है।

७ जनवरी १९३३ ई०

इतवारवाले बाबूजी

नरेन्द्रबाबू बेकार महकमेमें कई वर्ष बेगार ढोनेके बाद किसी तरह देहलीमें नौकरी तो पा सके, मगर सिर छिपानेको मकान न पा सके। आखिर दिल्लीसे तेरह मील दूर ग़ाज़ियाबादमें रहनेको विवश हुए। जनरल ड्यूटीमें प्रातः साढ़े सातसे साढ़े ग्यारह और दोपहर दोसे साढ़े पाँच बजे तक खटनेके लिए मुँह-अँधेरे ही बेचारे ट्रेनसे दिल्ली जाते, तो बच्चे सोये हुए रहते और रातको जब नौ-दस बजे वापस आते, तबतक बच्चे सो जाते। इतवारकी छुट्टीवाले रोज़ ही बच्चोंसे हँस-बोलकर जी बहलानेका अवसर मिलता।

इसी तरह दिल्ली-ग़ाज़ियाबादके चक्कर कोल्हूके बैलकी तरह काटते हुए दिन गुज़र रहे थे, कि एक रोज़ ड्यूटीपर एकाएक़ तबीयत खराब हो जानेकी वजहसे दिनमें ही घर वापस आना पड़ा। बड़ा बच्चा स्कूल गया हुआ था। दरवाज़ेपर दस्तक सुनकर पत्नीने छोटे बच्चेको भेजा ताकि वह दरवाज़ा खोलकर मालूम करे कि आगन्तुक कौन है? बच्चेने दरवाज़ा खोलकर देखा तो बोला, "माँ, इतवारवाले बाबूजी आये हैं।"

१४ मार्च १९५५ ई०

ये सम्मान

भारतमें कभी हैजा, कभी प्लेग, कभी लँगड़ा बुखार, कभी गरदनतोड़ ज्वर आदिकी ववा फैलती है, तो कभी बाढ़, ज़लज़ले, सूखा, टिड्डियों आदिके आक्रमण नाकमें दम किये रहते हैं। कभी इन्श्योरेन्स कम्पनियोंकी बाढ़ आती है तो कभी बैंक और स्टूडियो धड़ाधड़ खुलने लगते हैं। आज-कल अभिनन्दन-ग्रन्थों, डॉक्टरेट-उपाधियों और जन्मगाँठोंकी भरमार है। नेता तो नेता, उनके चपरासियोंकी भी जन्मगाँठें मनायी जाने लगी हैं। यूनिवर्सिटियाँ खोजती फिर रही हैं कि कोई नेता ऐसा बचा तो नहीं, जिसे डॉक्टरेटकी उपाधि अभीतक न मिली हो। यही हाल अभिनन्दन-ग्रन्थोंका है। गली-गली और कूचे-कूचेमें अभिनन्दन-ग्रन्थ समितियाँ बन रही हैं।

इसी तरहका प्रसंग जैन-महामण्डलके अधिवेशनमें आये हुए प्रतिनिधियोंमें चल रहा था। मैंने कहा, "भई, हम भी अपने चपरासीको डॉक्टरेटकी उपाधि और अभिनन्दन-ग्रन्थ दिलाना चाहते हैं। इस दुनियामें जो भी अच्छे कार्य कर लिये जायें, ग़नीमत है। साँसका क्या भरोसा, आया-आया न आया।"

इस वाक्यको कुछने सचमुच वास्तविक रूपमें लिया और वे उपाय भी बताने लगे। जिन्होंने मज़ाक़ समझा, वे खिलखिलाकर हँस पड़े। बौद्ध-भिक्षु आनन्द कौसल्यायन बड़े गम्भीर बने यह सब सुन रहे थे। उसी गम्भीर वाणीमें बोले, "युरोपमें कुछ लोगोंने उपाधि देनेके लिए एक फ़र्जी संस्था खोल रखी थी। निश्चित निधि प्राप्त होनेपर हर-एकको डिगरी दे देते थे।"

एक बार एक साधारण व्यक्तिको डिगरी मिली तो वह अपने घोड़ेको भी लेकर वहाँ पहुँचा और उन्हें झेंपानेकी ग़रज़से बोला, ''साहब, अपनी फ़ीस लेकर मेरे घोड़ेको भी पदवीसे सम्मानित कीजिए। यह भी क्या याद रखेगा कि कोई मालिक मिला था।''

संस्थाका अधिकारी बोला, ''खेद है कि हम घोड़ेको उपाधि नहीं दे सकते। फ़िलहाल हम गधोंको ही यह सम्मान दे रहे हैं।''

लतीफ़ा कुछ ऐसा चुस्त और मौज़ूँ हुआ कि सुनकर लोग हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये और ग्वालियर क़िलेमें घूमनेकी सारी थकान भूल गये।

५ नवम्बर १९५१ ई०

औक़ात न भूलिए

बादशाह सलामत जंगलमें शिकारकी खोजमें घूम रहे थे कि एक झाड़ीसे शेरने अचानक हमला कर दिया। लम्हे-भरमें बादशाहको दबोचने ही वाला था कि अंगरक्षककी गोलीने उसका काम तमाम कर दिया। बादशाहको जीवन-दान मिला।

होना तो यह चाहिए था कि बादशाह उसका जीवन-पर्यन्त कृतज्ञ रहता, परन्तु बादशाह फिर बादशाह न रहता। अंगरक्षक उसपर हावी हो जाता और बादशाह अगर बादशाह रहता भी तो उसकी हैसियत शतरंजके बादशाह-जैसी होती। जन-जनका एहसान भूलकर, लाखों नर-मुण्डोंपर पाँव रखकर ही तो वह राज्यासन तक पहुँच पाया था।

शेरके धराशायी होते ही बादशाहने तेवर बदल कर पूछा, "क्या यह हरकत तुमसे सरज़द हुई ?"

अंगरक्षकने बा-अदब अर्ज किया, "जी, जहाँपनाह, खता मुआफ़. शेरकी दहाड़पर हाथ हिल जानेसे पिस्तौलका घोड़ा दब गया और कम्बख्त गोली न जाने कैसे निशानेपर जा लगी ? अपनी घबराहटपर बहुत नादिम हूँ जहाँपनाह, ऐसी ग़लती फिर न होगी ज़र्रानवाज़ !"

मगर इस तरहकी ग़लतियाँ वह हमेशा करता रहा। इसी तरहकी ग़लतियोंपर ही तो उसकी मुलाज़मत टिकी हुई थी। ग़लतियाँ न करता तो बादशाह कभीका चपेटमें आ गया होता। अपनी उचित बातको भी मालिकके संकेतपर भूल तस्लीम कर लेना नौकरीकी सबसे बड़ी विशेषता है।

अतः अंगरक्षक जब भी ऐसी ग़लती करता, घुटने टेककर क्षमा माँग

लेता। बादशाहपर यह प्रकट न होने देता कि वह उसकी निशानेबाज़ीकी हक़ीक़त जानता है।

बादशाह चार घोड़ोंकी लैण्डोमें सैरको जाता तो अंगरक्षक भी साथ रहता। उसकी सीट कोचवानके बराबरमें थी। मगर बादशाह उसे कृपापूर्वक अपने सामने बिठाया करता। अंगरक्षक इस सौजन्यको अपना अधिकार नहीं, अपितु बादशाहका अनुग्रह और ज़र्रानवाज़ी समझता। बादशाहके अन्दर बैठनेपर दरवाज़ा बन्द करता। अपना एक पाँव नीचेके पायदानपर रखता, दूसरा पाँव मुन्तज़िर रखता कि लैण्डोके चलते ही उचककर कोचवानके पास बैठ जाये, परन्तु बादशाहका संकेत अन्दर बैठनेका होता और वह लपककर अन्दर जा बैठता।

रोज़ानाका यही दस्तूर था। न कभी बादशाहने यह कहकर दिया कि तुम कोचवानके बजाय हमारे सामनेकी सीटपर बैठा करो और न अंगरक्षकने ही उसे अपना हक़ माना। एक दिन रोज़ानाकी तरह एक पाँव पायदानपर और दूसरा पाँव मुन्तज़िर, कि बादशाहके संकेतपर लैण्डो बढ़ ली। मगर अंगरक्षकको अन्दर बैठनेका इशारा न हुआ। वह मतानत और इंकसारीके साथ लपककर कोचवानके बराबरमें उसी तरह जा बैठा, जिस तरह बादशाह सलामतके साथ बैठता था। न दिलमें मलाल न चेहरेपर झेंप। फिर मुद्दतों वह कोचवानके बराबर ही स्थान पाता रहा।

बादशाहके इस व्यवहारसे पत्नीकी खिन्नताका आभास मिला तो मुस्कराते हुए बोला, "तुम बहुत ग़लतीपर हो। मालिककी मेहरबानियों, नवाज़िशोंको अपना हक़ समझना ग़ुलामकी सबसे बड़ी भूल है। वह तो एक ऐक्टरके मानिन्द है। नाई, धोबी, वज़ीर वग़ैरह जिसका भी पार्ट दिया जाये, ऐक्टर ब-ख़ुशी करता है। बादशाहका पार्ट करनेके बाद न तो वह अपनेको बादशाह समझने लगता है, और न फिर भिखारीका पार्ट करनेसे इन्कार करता है। मालिक अपनी ज़रूरतके मुताबिक़ उसका स्वांग भरता रहता है। कभी ज़ेवरोंसे लादता है, कभी हाथमें कास-

ए-गदाई (भिक्षा-पात्र) देता है। कभी हाथीपर बिठाता है, कभी गधेपर घुमाता है। हर आदमीको अपनी औक़ात-ओ-हक़ीक़त हमेशा याद रखनी चाहिए। जब भी भूलेगा मात खायेगा।"

१८ मार्च १९५५ ई०

मित्रके लिए

एक व्यक्ति सपत्नीक तीर्थयात्राको जाने लगा तो अशर्फ़ियोंकी थैली अपने एक साहूकार मित्रके यहाँ सुरक्षाकी दृष्टिसे रख गया। साहूकारने बग़ैर गिने थैली तिजोरीमें रखवा दी और एक-दो वर्षके बाद जब वह यात्रासे लौटा तो माँगनेपर बग़ैर गिने ही ज्योंकी-त्यों वापस कर दी।

दो-एक रोज़के बाद अशर्फ़ियाँ गिनीं तो पाँच अशर्फ़ियाँ कम निकलीं। वह पेट पकड़े हुए साहूकारके पास जाकर बोला, "वाह मित्र, तुम भी विचित्र मनुष्य हो। तुम्हारे विश्वासपर मैं बिना गिने अशर्फ़ियाँ दे-ले गया, परन्तु तुम कतर-ब्योंत किये बग़ैर न चूके। गिनी तो पाँच अशर्फ़ियाँ कम निकलीं।"

साहूकारने चुपचाप उसे पाँच अशर्फ़ियाँ दे दीं। घर आकर वह अपनी पत्नीसे बोला, "देखो जी कैसा कलियुग आ गया है, हाथको हाथ खाने लगा। भला अब किसका विश्वास किया जाये। जब ऐसे-ऐसे मित्र भी धोखा देने लगे। यदि मैं लिहाज़वश अशर्फ़ियाँ न गिनता तो पाँच कम हो गयी होतीं।"

पत्नीके पूछनेपर उसने बताया तो वह सिर पीटकर बोली, "यह आपने क्या अनर्थ किया? वहाँ जानेसे पूर्व मुझसे ज़िक्र तो कर लेना था। वे तो मैंने निकालकर सुनारको दी हैं। जाओ उनकी अशर्फ़ियाँ अभी वापस करके आओ।"

अशर्फ़ियाँ लौटाने गया तो साहूकारने बग़ैर कुछ कहे-सुने वापस ले लीं। पासमें बैठे किसी सज्जनने पूछा, "आप भी विचित्र हैं। उसने आप-

पर ग़बनका आरोप किया, तब भी आप मुस्कराते रहे, और वापस दे गया तब भी मुस्कराते रहे, आप तो जीवन्मुक्त मालूम होते हैं।"

साहूकारने उसी तरह मुस्कराते हुए कहा, "वह मेरा मित्र है।"

२१ अगस्त १९५५ ई०

ख़तका मज़मूँ भाँप लेते हैं……

शाही हलालखोरी[1] क़िलेसे कमाकर अपने डेरेपर पहुँची तो दुहत्तड़ मारकर रोना-पीटना शुरू कर दिया। रोनेका सबब बार-बार दरियाफ़्त करनेपर ब-मुश्किल सुबक-सुबककर बोली, "मैं तो विधवा हो गयी।"

घरवाले सुनकर सकतेमें आ गये कि हे भगवान्, आज इसको हो क्या गया है? पतिके होते हुए भी आज यह ऐसे अशुभ वचन क्यों बोल रही है? हलालखोरने उसे एकान्तमें ले जाकर सब माजरा सुना तो वह तत्काल क़िले पहुँचा और बादशाहके समक्ष जाकर ज़ार-ज़ार रोने लगा।

बादशाह अकबर आहो-गिरियाँका सबब दरियाफ़्त फ़र्मा रहे हैं और हलालखोर है कि उसकी सुबकियाँ थमनेमें नहीं आ रही हैं। बिलख-बिलखकर रोये जा रहा है। बादशाह-द्वारा काफ़ी तसल्ली-ओ-तशफ़्फ़ी दिये जानेके बाद रुँधे हुए स्वरमें बोला,

"जहाँपनाह, जानकी अमान मिले तो अर्ज़ करूँ?"

"बेख़ौफ़ो-खतर मुद्दआ-ए-दिल बयान कर सकते हो।"

"रुस्तमे ज़माँ, यह कमतरीन बूढ़ा ज़रूर है, मगर बुज़दिल नहीं है। इसकी नसोंमें चंगेज़ी नमक लहरें मार रहा है। मैदाने-जंगमें यह भी सुर्ख़रू होनेकी तमन्ना रखता है। मगर…"

---

१. भङ्गी-चूहड़ा-शब्द बहुत अपमानजनक है। ये लोग जनताकी जितनी कठिन सेवा करते हैं, उसको देखते हुए उक्त शब्द उच्च समाजकी कृतघ्नताके द्योतक थे। अकबरने इसे महसूस किया और उसने इनके लिए 'हलालखोर' शब्द प्रचलित किया।

"मगर क्या ?"

"ख़ुदाबन्दा, गुलामकी लड़कीकी शादीके सिर्फ़ पन्द्रह रोज़ रह गये हैं। एक हो लड़की है। दिली तमन्ना थी कि मरनेसे पेश्तर उसके हाथ पीले देख लूँ।"

"बहुत मुबारक ख़याल है। शादीके अख़राजात शाहीख़ज़ानेसे किये जायेंगे। तफ़ुक्करातमें मुब्तला होनेकी क़तई ज़रूरत नहीं।"

"परवर्दिगार, गुलामकी ख़्वाहिश थी कि अपने जीते-जी हुज़ूरकी लौण्डीका विवाह कर सकता।"

"इन्शा अल्लाह, तुम्हारी ख़्वाहिश ज़रूर पूरी होगी।"

"क़िबलो-ओ-काबा, बेअदबी मुआफ़, जब आलीजाह मेवाड़पर चढ़ाई कर रहे हैं तो यह दिली तमन्ना पूरी कैसे होगी ? गुलाम तो सफ़रमें…!"

"ओह !"

अकबर हैरान कि मनकी बात अभी लब तक भी नहीं आयी, वज़ीरो-सिपहसालार तकपर अयाँ नहीं हुई। फिर यह राज़ हलालख़ोरको कैसे मालूम हुआ ? झिड़ककर बोला,

"दीवाना हुआ है क्या ? यह बे-सिर-पैरकी बातें क्या बक रहा है ?"

शाही हलालख़ोरने हाथ बाँधकर अर्ज़ की, "आक़ाये-जहाँ, ग़रीब परवर, हलालख़ोरीका क़यास ग़लत नहीं हो सकता। आपके पेशाबसे चिराग़ जलता है तो जहाँपनाह आपकी हलालख़ोरी भी उसी पेशाबमें खेलकर बूढ़ी हुई है।"

"पहेलियाँ न बुझाओ, आख़िर बात क्या है, साफ़-साफ़ बयान करो।"

"जहाँपनाह जाए-ज़रूर (शौचालय)से बाहर तशरीफ़ लाये तो मेवाड़-की तरफ़ रौनक़ अफ़रोज़ होकर मूँछोंपर ताव देने लगे। हलालख़ोरीने देखा तो वह सब माजरा भाँप गयी। औरत जात है हुज़ूर, घबरा गयी कि

मेरा हलालखोर भी लश्करके साथ जायेगा, तब लड़कीकी शादी क्या खाक होगी।"

"अच्छा यह बात है! हम हलालखोरीकी इस दूरन्देशीसे बहुत मुतास्सिर हुए! खबरदार यह राज़ किसीपर अयाँ न होने पाये! हम शादी तक मेवाड़के कूचका इरादा मुल्तवी करते हैं।"

२० जुलाई १९५४ ई०

खुल गयी सारी हक़ीक़त

[जब कभी किसी ऐसे आदमीसे कोई ज़लील हरकत हो जाती थी, जिससे ऐसी आशा नहीं की जा सकती थी तब प्रसंग छिड़नेपर पूज्य मामाजी अकसर यह कहानी बड़े मज़े ले-लेकर सुनाया करते थे। बचपनमें कई बार यह कहानी उनकी ज़बाने-मुबारकसे सुननेका मुझे फ़ख़ हासिल है। उन-जैसा अन्दाज़े-बयान, तर्ज़-गुफ़्तगू कहाँ से लाऊँ ? फिर भी आज इसे काग़ज़पर उतारनेको जी चाह रहा है।]

ईदकी नमाज़ पढ़नेके लिए बादशाह सलामत बहुत बड़े जुलूसके साथ हाथीपर सवार होकर मुजरोंका जवाब देते हुए, नज़रो-नियाज़को नज़रोंसे गुज़ारते हुए खन्दापेशानीके साथ ईदगाह तशरीफ़ ले जा रहे थे कि रास्तेमें नगर-सेठकी दूकान पड़ी तो दस्तूरके मुताबिक़ हाथी ठहराया गया और नगर-सेठके अभिवादनके बाद बादशाह सलामतने मुस्कराते हुए पूछा, "सेठ साहब मिज़ाज मुबारक !"

सेठ साहबने अन्यमनस्क भावसे जवाब दिया, "जहाँपनाहकी बदौलत दिन गुज़र रहे हैं।"

नगर-सेठकी आवाज़में कुछ वेदनाकी-सी झलक मालूम दी तो बादशाहने अपने वज़ीरकी तरफ़ देखा। वज़ीरने आँखों-आँखोंमें ज़ाहिर कर दिया कि व्यापारमें अचानक बहुत अधिक घाटा लग जानेके कारण समस्त कारोबार चौपट हो गया है और रंजो-मुसीबतमें दिन कट रहे हैं।

वज़ीरका मनोभाव समझकर बादशाह सहृदयतापूर्वक बोला, "सेठ साहब, हालात जानकर हमें बेहद मलाल हुआ। कहिए आपकी क्या इमदाद की जाये ?"

नगर-सेठ हाथ जोड़कर बोला, "ज़र्रानवाज़, मेरे ये चार लड़के ना-बीना (सूरदास) हैं। इन्हें एक लाख रुपयेमें गिरवी रख लीजिए। चन्द महीनोंमें इन्हें छुड़ा लूँगा।"

बादशाहने एक नज़र लड़कोंपर डालते हुए फ़र्माया, "सेठ साहब, इमदादके तौरपर शाही खज़ानेसे रुपया अ़ता किया जा सकता है। मगर रुपयेके एवज़में इन ना-बीना लड़कोंको लेकर हम क्या करेंगे? इनकी देख-रेखको चार खिदमतगार हमें और रखने होंगे।"

"जहाँपनाह, मैं वैश्य हूँ। व्यापारके लिए क़र्ज़ देना-लेना हम जाइज़ समझते हैं। हाथ पसारनेसे जान देना बेहतर समझते हैं। ज़ाहिरमें यह चारों लड़के ना-बीना हैं। मगर इनके हियेकी आँखें खुली हुई हैं। इनमें-से एक घोड़ोंकी शिनाख्तमें कमाल रखता है। दूसरा जवाहिरातका पारखी है। तीसरा मस्तूरातका माहिर है और चौथा इन्सानोंके खरे-खोटेकी पहचानमें अपना जवाब नहीं रखता। जबतक एक लाख रुपये न लौटा सकूँ, अमानतन इन्हें अपनी ख़िदमतमें रखिए। इनके हुनरोंको आज़माइए। हुनरमें कहीं भी खता खायें तो इनका सिर क़लम करा दीजिए और रुपया वापस मँगवा लीजिए।"

शाही खज़ानेसे नगर-सेठको एक लाख रुपये भिजवा दिये गये और बन्धकस्वरूप चारों लड़कोंको क़िलेमें बुलाकर उन्हें एक मकानमें ठहरा दिया गया और भोजनके लिए निश्चित खुराक़ी[1] नियत कर दी गयी।

सेठ-पुत्रोंको आये हुए चन्द ही रोज़ हुए थे कि बादशाहने एक बेशक़ीमती घोड़ा खरीदा। घोड़ेकी जब क़ीमत दी जाने लगी तो खयाल आया कि क्यों न रईस-ज़ादोंको भी बुलाकर इस वक़्त परख लिया जाये जो कई रोज़से शाही रोटियाँ तोड़ रहे हैं।

शाही आदेशानुसार अश्व-पारखी सेठ-पुत्र आया। घोड़ेपर एक-दो

---

१. अर्थात् भोजनके लिए खाद्य-सामग्रीकी तौल निश्चित कर दी।

मिनिट हाथ फेरकर बोला, "ख़ुदावन्दा, यह घोड़ा ख़रीदनेके बजाय गोली मार देनेके क़ाबिल है।"

सेठ-पुत्रकी बात सुनी तो पास खड़े हुए मुसाहब, अहाली, मवाली सब ठहाका मारकर हँस पड़े। वज़ीरने हँसीको ज़ब्त करते हुए कहा,

"रईसज़ादे होशमें हो या नहीं? जानते नहीं यह घोड़ा जहाँपनाहने खुद पसन्द फ़र्माया है। जिनकी रानसे न जाने कितने बेहतरीन घोड़ोंको निकलनेका फ़ख्र हासिल होता रहा है।"

रईसज़ादा नम्रतापूर्वक बोला, "इसमें किस क़ाफ़िरको शक हो सकता है। हुज़ूर सही फ़र्मा रहे हैं। मगर बेअदबी मुआफ़, मेरा हुनर भी ख़ता नहीं कर सकता। इसे नदी पार किया जाये। तमाम हक़ीक़त अभी ज़ाहिर हो जायेगी।"

घोड़ेपर सवार होकर कोचवान नदीमें घुसा तो घोड़ा तैरनेके बजाय थोड़ी दूर जाकर पानीमें लोटनी खाने लगा। कोचवान सावधान था। घोड़ेसे कूद पड़ा और उसे तुरन्त पानीसे बाहर ले आया। बादशाह हैरतसे बोला, "रईसज़ादे, कमाल रखते हो अपने हुनरमें, मगर हम जानना चाहेंगे कि घोड़ेका यह ऐब तुमने कैसे भाँप लिया?"

सेठ-पुत्रने दस्तबस्ता अर्ज़ की, "बन्दानवाज़, मुझे इसके पसीनेमें भैंसकी बू आयी। मालूम होता है जन्म देकर इसकी माँ मर गयी थी और इसकी परवरिश भैंसके दूधसे हुई है।"

व्यापारीने सेठ-पुत्रकी उक्तिका समर्थन किया। बादशाह रुपयों और जानके ख़तरेसे बचा। उसने मारे ख़ुशीके इस सेठ-पुत्रकी ख़ुराक़ी बतौर इनाम दोगुनी कर दी।

कुछ ही दिनके बाद बादशाहने एक हीरा पसन्द किया जो कई लाखका था। कौतूहलवश उस समय भी रत्न-पारखी सेठ-पुत्रको तलब किया गया। सेठ-पुत्रने हीरेको हाथमें लेते ही अर्ज़ किया, "यह हीरा जिसके पास रहेगा, उसके पास उसकी पत्नी नहीं रहेगी।" बादशाहने जौहरीको आग्नेय नेत्रोंसे

देखा तो वह काँप उठा। हाथ बाँधकर घिघियाते हुए बोला, "जहाँपनाह, जानो-मालकी अमान मिले तो अर्ज़ करूँ। यह हीरा जिस जौहरीसे मैंने खरीदा था, उसकी पत्नी मर चुकी थी। ख़रीदते ही मेरी पत्नी भी मर गयी। मगर ख़ुदाबन्दा, मुझे यह ख़्वाबो-खयाल भी न था कि यह सब इसी हीरेकी करामात है। वर्ना मैं हरगिज़ यह चीज़ नहीं दिखाता।"

बादशाहने खुश होकर रत्न-पारखीकी भी ख़ुराक़ी दूनी मुक़र्रर कर दी।

एक रोज़ बैठे-बिठाये बादशाहको मज़ाक़ सूझा तो उसने अपने हरम-सराकी बेगमात एकत्र कीं और मस्तूरातके पारखीको बुलवा भेजा। सेठ-पुत्र एक-एकके सिरपर हाथ रखता जाता था और बतलाता जाता था कि यह पठानी है, यह मुग़लानी है, यह तुर्की है, यह ईरानी है। ग़रज़ इसी तरह बताते हुए जब वह एक बेगमके पास पहुँचा तो बोला, "जहाँपनाह, यह वेश्या-पुत्री है।"

यह सुनते ही अन्य बेगमात खिलखिला उठीं और बादशाह सकतेमें आ गया। उसे बाहर लाकर बोला, "रईसज़ादे, मालूम होता है तुम अपनी जानसे आजिज़ आ गये हो। वर्ना मेरी चहेती मलकाकी शानमें ऐसी बद-कलामी न करते। जानते हो इस गुस्ताख़ीकी सज़ा क्या होगी?"

सेठ-पुत्रने बे-झिझक जवाब दिया, "जानता हूँ आलीजाह, पहले मुझे तीरोंसे मारा जायेगा, फिर मेरी खालमें भुस भरवाकर चौराहेपर रखा जायेगा। मगर मैं मजबूर हूँ, अपने हुनरमें खौफ़की वजहसे दाग़ नहीं लगा सकता।"

"नमकहराम, ज़बान बन्द रख, जानता नहीं, यह शाहे-ईरानकी दुख्तरे-आला हैं।"

"इस हक़ीक़तसे कौन काफ़िर मुन्किर है? मगर किसके वतनसे जलवागर हुई हैं, यह राज़ मालूम कर लेनेपर जो चाहें सज़ा दें, क़िबल-ओ-काबाको इख़्तियार है।"

जाँच करनेपर मालूम हुआ कि मलकए-ईरानको औलाद नहीं होती थी। उधर एक वेश्याको शाहे-ईरानका गर्भ रह गया था। शाह नहीं चाहता था कि उसकी लड़की वेश्यापुत्री कहलाये। अतः उसने चुपके-चुपके ऐसा प्रबन्ध किया कि वेश्याके प्रसव करते ही वह लड़की मलिकाके पास मँगवा ली गयी और मलिकाको पुत्रीरत्नकी प्राप्ति हुई है, जनतामें यह घोषणा करा दी गयी थी।

बादशाहने सेठ-पुत्रकी इस परीक्षाका आधार पूछा तो उसने बतलाया कि सिरपर हाथ रखनेसे उनकी तमकनत, गरमी, अकड़, बाँकपन आदिकी हलकी-जुम्बिशसे मैं भाँप लेता था कि कौन किस जातकी है। जब मलकए-आलमके सिरपर हाथ रखा तो वे कुछ ऐसी शोख़ी और अदासे उछलीं, जैसी कि वेश्याओंमें हुआ करती है।"

बादशाह सेठ-पुत्रपर बहुत ख़ुश हुआ और उसकी भी ख़ुराक़ी दूनी कर दी।

बादशाहको एक रोज़ सनक सवार हुई तो अपनी परीक्षाके लिए चौथे सेठ-पुत्रको बुला भेजा। एकान्त कमरेमें बादशाह और सेठ-पुत्रके अतिरिक्त और कोई न था। बादशाहकी इच्छा प्रकट होनेपर सेठ-पुत्र बोला, "जानकी अमान मिले तो अर्ज़ करूँ कि मेरे भाइयोंने तो अपने हुनरमें दाग़ लगाया जो हाथ लगाकर वस्फ़ बयान किये। मैं तो हुज़ूरको दूर ही से बता सकता हूँ कि आप नानबाईकी औलाद हैं।"

बादशाहके ग़ैज़ो-ग़ज़बका क्या कहना? मगर तीन भाइयोंकी परीक्षा ले चुका था। भन्नाया हुआ राजमाताके महलमें पहुँचा और एकान्तमें ले जाकर रुँधे कण्ठसे बोला, "अम्मीजान, सच कहें मैं किसके नुत्फ़ेसे हूँ।"

राज-माता अपने बेटेकी बलाएँ लेते हुए बोली, "भला बेटा, यह भी कोई पूछनेकी बात है? तू अपने उसी वालिद मरहूमसे है जो कि तुझसे पहले इस जहानका मालिक था।"

बादशाह फूट-फूटकर रोने लगा। जब वह आत्म-हत्या तक करनेपर

तत्पर हो गया तो राजमाताने सब प्रकट कर दिया। उसने बताया कि क़िलेके सामने जो बूढ़ा नानबाई दूकान करता है, बादशाह उसीसे है। मरहूम बादशाह आठ सालसे लड़ाईपर गये हुए थे। सन्तान कोई थी नहीं। एक दिन स्नानके बाद बाल सुखाने जो महलकी छतपर मलिका गयीं तो नानबाईपर सहसा नज़र पड़ गयी। सतरह-अठारह सालकी उम्र, गोरा-चिट्टा कसरती जिस्म, स्वच्छ कपड़ोंमें मलबूस। देखा तो नज़र टिक गयी। जब-जब छतपर जाती, मलिका उसे ही देखती रह जाती। नतीजा यह हुआ कि उस नौजवानका, आना-जाना गुप्त मार्गसे महलमें होने लगा। परिणामस्वरूप·····!

राज-माताके यहाँसे आकर बादशाहने खिसियाने स्वरमें पूछा, "रईसज़ादे, तुमने यह राज़ कैसे जाना? हम तुम्हारे हुनरकी तारीफ़ करते हैं।"

"जहाँपनाह, इसमें तो अक़्लको कुछ भी दख़्ल नहीं। मामूली-सी बात है। मेरे तीनों भाइयोंने जो अपने हुनर दिखलाये, वे मामूली न थे। कोई बादशाह होता तो जागीर बख़्श देता। मगर आपने जागीर बख़्शना तो दरकिनार, हमें गिरवीके बन्धनसे भी मुक्त नहीं किया। जिसपर बेहद खुश हुए, उसकी ख़ुराक़ी बढ़ा दी। ख़ुराक़का हिसाब रखना नानबाईको ही ज़ेब देता है, बादशाहको नहीं।"

"जाओ हम तुम लोगोंको पचास गाँव जागीरमें देते हैं और गिरवीके बन्धनसे आज़ाद करते हैं।"

"जहाँपनाह, वह पानी तो मुलतान बह गया। अब तो तमाम सल्तनत भी बख़्श दें तो बात बनती नहीं। आप यक़ीन रखें जान चली जायेगी, मगर राज़ किसीपर अयाँ न होगा।"

२४ अगस्त १९५४ ई०

अति सर्वत्र वर्जयेत्

पुराने ज़मानेमें एक राजा संगीतके इतने अधिक शौक़ीन थे कि दिन-रात संगीतकी महफ़िलोंमें व्यस्त रहते थे। राज-काज देखनेका उन्हें अवकाश ही नहीं मिलता था। यह शौक़ यहाँतक बढ़ा कि उन्होंने राज्य-भरमें घोषणा करा दी कि आवश्यकसे-आवश्यक प्रार्थना भी राजाके समक्ष गाकर ही कही जाये, अतः मन्त्री, सेनापति, राज्य-कर्मचारी, यहाँतक कि राज-माता और महारानी तक भी राजासे संगीत-द्वारा ही वार्त्तालाप करतीं। परिणाम इसका यह हुआ कि राज्यका प्रत्येक व्यक्ति संगीत-निपुण हो गया। भले ही किसीको रोना आये, या न आये, संगीत-ज्ञान आवश्यक हो गया, किन्तु हर बातकी एक सीमा होती है। अति सर्वत्र वर्जनीय है।

एक बार राजा राजधानीसे कुछ दूर गये हुए थे कि उनके अन्तःपुरमें आग लग गयी। आगकी सूचना राजा तक गद्यमें पहुँचानेका साहस कौन कर सकता था? बग़ैर गाये बात करनेकी कोई कल्पना भी नहीं कर सका। अतः राजा तक अग्निकाण्डके समाचार यथाशीघ्र पहुँचानेके लिए तैयारियाँ जल्दी-जल्दी होने लगीं। स्वयं राजाके महलोंमें आग लगी थी, इसलिए अच्छेसे-अच्छे कविको खोजकर कविता बनवायी गयी। संगीत-विशेषज्ञसे ध्वनि बैठवायी गयी और ख्यातिप्राप्त गायकोंको अर्ज़ करनेके लिए तैयार किया गया। जल्दी-जल्दी तैयारियाँ करनेके बावजूद भी दो-तीन रोज़के बाद राजाके समक्ष पेशी हो सकी। गायकने स्वर लिया,

"आग लगी"

महाराज सुनकर झूमने लगे। "वाह क्या मौलिक कल्पना है? वर्षा

ऋतुमें आग लगी। विरहीजनोंके दग्ध हृदयको आग लगीकी कल्पना बिलकुल अछूती और यथार्थ है।"

महाराज-द्वारा दाद मिलते ही गवैयेको यह स्मरण ही न रहा कि उसे अगली सूचना देनी है। वह तन्मय होकर अलाप लेने लगा। आखिर महाराजा ही झूमते हुए बोले, "हाँ भई, कैसे लगी, कहाँ लगी, तनिक यह भी बतलाइए।" गायकने अन्तरा उठाया, **अन्तःपुरमें आग लगी।**

अन्तरा सुना तो महाराज बेसाख्ता बोल उठे, "वाह उस्ताद क्या बात पैदा की है। 'अन्तःपुरमें आग लगी' क्या वास्तविक चित्र खींचा है। सर्व-साधारण विरहाग्नि-ताप कैसे सहन कर सकते हैं? बेशक यह आग तो राजाओंके अन्तःपुरमें ही सहन होती है। भई वाह क्या मौसमी राग छेड़ा है! हाँ उस्ताद किसके अन्तःपुरमें आग लगी? वह कौन भाग्यशाली है, जिसकी पत्नियाँ विरह-तापसे धधक रही हैं।" गायकने फिर मुरकी ली,

आप ही के अन्तःपुरमें आग लगी

महाराज विह्वल-से होकर गवैयेको सीनेसे लगाना ही चाहते थे कि भीड़में खड़े हुए कुछ लोगोंकी चीत्कार सुनकर वास्तविक-स्थिति समझ गये।

राजधानी पहुँचकर अन्तःपुरमें जो विध्वंस-लीला देखी तो महाराज चीत्कार कर उठे। लोग उनके रुदनको देखकर हतप्रभ थे कि यह संगीत-का पुजारी आज गद्य क्यों अपनाये हुए है?

२० अगस्त १९५५ ई०

जट्ट-बुद्धि

बोहरेजीके तक़ाज़ों और तानोंसे लोगोंके नाकमें दम था। क़र्ज़की वसूलीमें किसीके बैल खुलवा लेता, किसीको भरी खेती कटवा लेता और जिसपै कुछ न होता, उसे जेल भिजवा देता। गाँव-भरमें बोहरेजीका आतंक छाया हुआ था। गाँवके लोग उसका सुबह-सुबह मुँह देखना असगुन समझते, मगर ग़रज़ बावली होती है। किसीको लड़कीके हाथ पीले करनेके लिए, किसीको भात भरनेके लिए और किसीको अड़ी-भीड़में बोहरेजीकी मिन्नतें करनी ही पड़तीं।

जो एक बार क़र्ज़-जालमें फँसता, वह जीते-जी स्वयं तो निकल ही नहीं सकता, आगेकी सात पुश्तोंके फँसनेका निमित्त भी बन जाता था। मकड़ीके जालेसे मक्खी भले ही निकली हो, बोहरेजीके क़र्ज़-जालसे कभी किसीको निकलते नहीं सुना।

उसी गाँवमें गिरवर जाट भी रहता था। खाता-पीता आदमी था। 'उतने पाँव पसारिए, जितनी लम्बी सौड़' का वह क़ायल था। रूखा-सूखा जो भी मयस्सर होता, खाता और अपने भाग्यको सराहता। न कभी वह बोहरेजीके दरवाज़े तक गया और न कभी उसने ज़रूरत ही महसूस की।

मगर एक रोज़ न जाने उसे क्या उमंग उठी कि बोहरेजीके यहाँ जा निकला। बोहरेजीने उसे बड़े स्नेहसे अपने पास बिठाया। उनके मनकी मुराद पूरी हुई। गाँव-भरमें गिरवर ही एक ऐसा नक्कू था, जो उसे खातिर-में न लाता था। न कभी रामा-कृष्णा, न कभी आना-जाना। गिरवरकी यह उपेक्षा बोहरेजीके लिए एक चुनौती थी कि इस पंछीको जालमें फँसाना हँसी-खेल नहीं।

ऐसे स्वच्छन्द गिरवरको समीप देखकर बोहरेजीकी बाँछें खिल गयीं। उपालम्भके स्वरमें बोले, "कहो चोधरी, कैसे रास्ता भूल गये ? भला हमारे ऐसे भाग्य कहाँ जो चौधरीकी सेवाका अवसर पा सकें।"

गिरवर : "बोहरेजी, क्यों काँटोंमें घसीटते हो ? कई बार दर्शनोंकी इच्छा होती थी; मगर आनेकी हिम्मत नहीं पड़ती थी कि न जाने....।"

बोहरेजी : "हाँ भई चौधरी, ठीक कहते हो। हम आदमी न हुए भेड़िये हुए कि पास आते हुए भी आपको डर लगता था।"

गिरवर : "बोहरेजी, क्यों चींटियोंपर पसेरी फेंक रहे हो ? आप तो हमारे अन्नदाता हैं। भला आपके पास कौन नहीं आना चाहेगा ? सच मानिए संकोचवश ही मन मारकर रह जाता था। आज जब प्राण कण्ठमें अटक गये हैं, तभी शरणमें आनेकी हिम्मत की है।"

बोहरेजी : "ऐसी क्या बात है चौधरी ? हम तो तुम्हारे कामके लिए आधी रातको तैयार हैं।"

गिरवर : "क्या बताऊँ बोहरेजी, लड़कीका विवाह पन्द्रह रोज़में करना है। समधीसे मैंने कहा कि विवाह जाड़ोंमें ठीक रहेगा। इतनेमें फ़सल भी बिक जायेगी। मगर वह ज़िद पकड़ गया है कि शादी अभी होगी, वर्ना रिश्ता छोड़ दिया जायेगा। फ़सलमें तीन-चार माहकी देर है। पास फूटी कौड़ी नहीं, विवाह करूँ तो कैसे करूँ ? और रिश्ता भी छोड़नेको मन नहीं होता। घर-वर दोनों ही बहुत अच्छे हैं। फिर ऐसा रिश्ता कहाँ मिलेगा ?"

बोहरेजी : "बस, इतनी-सी बात ? जितना रुपया चाहो ले जाओ।"

गिरवर चौधरीको पाँच सौ रुपये ले जाये कुछ रोज़ ही हुए थे कि एक रोज़ मुँह लटकाये फिर बोहरेजीके यहाँ पहुँचा।

बोहरेजी : "अरे भई चौधरी, यह क्या ? इतनी जल्दी रुपये क्यों लौटा लाये ? अभी तो लड़कीका विवाह नहीं हुआ।"

गिरवर : "बोहरेजी, अब यह शादी नहीं होगी। समधी बड़ा क़ाइयाँ मालूम होता है। हर बार नित नये खुरपेच निकालता रहता है। मैंने उसकी ज़िदपर इतनी जल्दी विवाह मंज़ूर कर लिया, तो अब सन्देशा भेजा है कि फेरोंके वक़्त मढ़ेपर उल्लूका रहना लाज़िमी है। हमारे कुलकी यह बहुत महत्त्वपूर्ण रीति है। मढ़ेपर उल्लू न हुआ तो शादी हरगिज़ नहीं होगी। मैंने इधर-उधर उल्लूकी काफ़ी खोज करायी। यहाँतक कि पाँच सौ रुपये तक लानेवालेको देने चाहे। मगर उल्लू न मिला। लाचार रिश्ता छोड़ना पड़ेगा; अब और उपाय ही क्या है ? आप अपने रुपये व्याज समेत वापस ले लीजिए।"

फँसे हुए आसामीको बोहरेजी यूँ निकल जाने दें तो फिर साहूकारी कैसे चले ? अतः गलेमें मिठास भरकर बोले, "चौधरी, इतनी जल्दी घबरानेसे कैसे काम चलेगा ? धीरजसे काम लो। संसारमें ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो चाँदीके जूतोंसे प्राप्त न हो सके। प्रयत्न करोगे तो उल्लू कहीं-न-कहीं ज़रूर मिलेगा। हमें मिला तो हम ही खरीद देंगे।"

लाचार चौधरी रुपये वापस ले गया। एक-दो रोज़के बाद बोहरेने देखा कि एक आदमी उल्लू बेचता फिर रहा है और उसके पीछे बच्चे तालियाँ बजाते घूम रहे हैं। बोहरेजीने उसे बुलाकर क़ीमत पूछी तो बोला, "हुज़ूर, छह सौ रुपयेसे कम न लेता, मगर अब पाँच सौ रुपयेमें देनेको तैयार हूँ। अजीब गाँव है कि लोग उल्लूकी क़दरो-मंज़लतसे वाक़िफ़ नहीं। सिर्फ़ इसके पारखी आप दिखाई दिये। कान पकड़ा जो कभी इधर फिर आऊँ।"

बोहरा : "भई, उल्लूकी इतनी क़ीमत कौन देगा ?"

उल्लूवाला : "हुज़ूर, यह मनहूस कहनेको है। वर्ना जिसके यहाँ इसका निवास रहता है, उसके यहाँसे लक्ष्मी निकालनेसे नहीं निकलती। लक्ष्मीको यह जानवर इतना प्यारा है कि वह इसके सिवा किसीपर सवारी नहीं करती। इसीलिए बहुत-से लोगोंमें यह रिवाज है कि फेरोंके वक़्त वे

उल्लूको मढ़ेपर बाँध रखते हैं। अगर किसी वजहसे उल्लू न मिले तो बारातें फेरे डाले बग़ैर वापस लौट जाती हैं। मैंने ख़ुद एक हज़ारमें एक उल्लू परसाल बेचा था। यह तो वक़्त-वक़्तकी बात है कि आज छह सौ रुपयेमें भी महँगा समझा जा रहा है। लगनके दिनोंमें मिलता ही कहाँ है? हिमालयके जंगलोंमें जा छिपता है। चार महीने जाल डाले बैठा रहा, तब यह फँसा है।''

चौधरीकी बातका समर्थन उल्लूवालेसे भी सुना तो चार सौ पचास रुपयेमें बोहरेजीने उल्लू खरीद लिया कि चलो पाँच सौ रुपयेमें चौधरीको भेड़ा जायेगा।

उल्लूवालेको गये ब-मुश्किल पाँच-सात मिनिट हुए होंगे कि चौधरी फिर मुहर्रमी शक्ल बनाये नाज़िल हुए और बोले, बोहरेजी अपना रुपया आप वापस ले लें। मुझे पुख़्ता ख़बर मिली है कि लड़केको मिरगी आती है; मैं अब यह रिश्ता हरगिज़ नहीं करूँगा।''

बोहरेजीको काटो तो ख़ून नहीं। उल्लूवालेकी तलाशमें चारों तरफ़ आदमी दौड़ाये, मगर वह न मिला। बोहरेजी चार सौ पचासका चकमा खाकर बड़बड़ाये, ''हम गाँव-भरको उल्लू बनाते थे, यह गँवार हमें उल्लू बना गया।''

सितम्बर १९५४ ई०

नादिरशाहका ज़ुकाम

दिल्ली लूटने-खसोटनेके बाद नादिरशाह दिल्लीके लाल-क़िलेमें मुहम्मद शाह रंगीले बादशाहका मेहमान था। एक रोज़ उसे कुछ ज़ुकाम-सा मालूम दिया तो बादशाहने शाही हकीमको ज़ुकामकी अक्सीर दवा ले आनेके लिए तलब किया।

एक बिल्लौरी मर्तबान, सोनेका काँटा और मोती-मूँगेके बाट लेकर शाही हकीम तुरन्त उपस्थित हुआ। वह अभी बादशाहसे यह कह भी न पाया था कि दो रत्ती दवा देते ही ज़ुकाम काफ़ूर हो जायेगा कि मर्तबानपर नादिरशाहकी नज़र गयी तो उसे दवाका रूप-रंग बेहद पसन्द आया। उठाकर खाना शुरू कर दिया और सब दवा क़रीब-करीब दो सेर खानेके बाद बोला, "हलुआ बेहद पसन्द आया।"

२२ अगस्त १९५५ ई०

क़र्ज़की अदायगी

एक साहूकारके किसी जाटपर मुद्दतोंसे चार सौ रुपये क़र्ज़ थे। क़र्ज़ चुकानेके वायदेपर-वायदे करता, परन्तु देता एक पैसा भी न था। एक रोज़ साहूकारने तनिक कड़ा तक़ाज़ा किया तो बोला, "ऐसे जीनेसे तो मरना अच्छा। मैं पेड़से कूदकर जान दिये देता हूँ।"

जाट लपककर सामनेके ऊँचे पेड़पर चढ़ गया तो, साहूकार उसे आत्महत्यापर उतारू देख घबराकर बोला, "अच्छा चौधरी, तुम पेड़से उतर आओ, मैं दो सौ रुपये छोड़ दूँगा।"

चौधरी पेड़से उतर आया तो लाला बोला, "अच्छा चौधरी, बाक़ी दो सौ तो दिलवाओ।"

जाटने अपने कपड़े ठीक करते हुए जवाब दिया, "लाला घबरा नहीं, जैसे यह दो सौ उतार दिये, वैसे ही एक दिन वे भी उतार दूँगा।"

६ अप्रैल १९५५ ई०

इज़्ज़त रह गयी

यह उन दिनोंकी बात है, जब कि यहाँ अँगरेज़ी-राज्यका बोलबाला था। एक देहाती लगानका रुपया तहसीलमें जमा कराने गया। उसने निश्चित लगानसे पाँच रुपये कम अफ़सरकी मेज़पर रखे तो अफ़सर झल्लाकर बोला,

"लगान पूरा दो, यह परचूनियेकी दूकान नहीं है कि भाव-ताव किया जाये।" मगर देहाती अपनी बातपर अड़ा रहा और यही कहता रहा कि ग़रीब आदमी हूँ। अब मेरे पास देनेको कौड़ी भी नहीं है।

देहातीकी ज़िदसे तंग आकर अफ़सरने चपरासीको हुक्म दिया, "इसे कमरेमें लेजाकर तनिक समझाओ।"

चपरासी अफ़सरकी बानी समझता था। वह देहातीको कमरेमें ले गया और तीन-चार हाथ उसके कसकर मारे तो देहाती अपनी अण्टीमें-से पाँच रुपये देते हुए बोला, "भई, वाह, यह तो ग़नीमत हुई जो मेरे पास पाँच रुपये मौजूद थे, वर्ना इज़्ज़त जानेमें क्या कसर रही थी?"

१४ जून १९५५ ई०

'द' और 'ल'की करामात

एक ब्राह्मण जो लेनेके अतिरिक्त देना सीखे ही नहीं थे, उन्हें 'द' शब्दसे बहुत चिढ़ थी। एक रोज़ अपने गुरुके पास पहुँचकर बोले, "गुरुजी, आज मेरे तनिक पाँच जूते तो लगाइए।"

गुरुजी : "क्यों,क्या बात हुई ?"

"आज रातको स्वप्नावस्थामें मेरे मुँहसे वर्जित शब्द('द')निकल गया।"

"अरे मूर्ख, यह तूने क्या किया ?"

"हाँ गुरुजी, अपराध तो बन ही गया। बात यह हुई कि मुझे स्वप्नमें आभास हुआ कि चोर घरमें घुसनेवाले हैं, बस घबराहटमें घरवालीसे कह उठा, ज़रा जल्दीसे दरवाज़ा बन्द कर 'देना'।"

"बड़ा अज्ञानी है रे तू, फिर इस वर्जित शब्दको मेरे सामने भी पुनः बोल रहा है। 'बन्द कर लेना' कहनेमें तेरा क्या बिगड़ता था, जो तैंने ऐसी भूल की।"

यही ब्राह्मण देवता एक बार अन्धे कुएँमें गिर गये। कुआँ गहरा नहीं था, फिर भी बाहरी सहायताके बग़ैर निकल नहीं सकते थे। शोर सुनकर कई आदमी दौड़ आये और हाथ बढ़ाकर कहने लगे, "पण्डितजी, अपना हाथ दीजिए, हम खींच लेते हैं।" लेकिन पण्डितजीने अपना हाथ नहीं दिया और कुएँमें चुपचाप पड़े रहे। लोग हैरान थे कि भलामानुस कुएँमें तो पड़ा हुआ है, परन्तु हाथ नहीं देता। इतनेमें ही उनका एक पड़ोसी आ पहुँचा जो उनके स्वभावसे परिचित था। आते ही उसने कहा,

"पण्डितजी, हमारा हाथ अपने हाथमें लो हम अभी खींचे लेते हैं।" इस तरकीबसे पण्डितजी तुरन्त बाहर खींच लिये गये।

१६ जून १९५५ ई०

जात जानेमें क्या देर लगती

एक सज्जन ताड़ीखानेमें बैठे पी रहे थे। ताड़ीकी हाँड़ी सामने रखी हुई थी। पीते-पीते तलछट बची तो चौंककर बोले,

"ठेकेदार, हाँड़ीके अन्दर यह क्या पड़ा हुआ है?" ठेकेदारने हाँड़ीको देखा तो उसमें रोटी पड़ी हुई थी। उस गली हुई रोटीको निकालते हुए ठेकेदारने कहा, "मालूम होता है रातको मेरे किसी बच्चेने रोटी खाते-खाते बची हुई रोटी इसमें डाल दी, ताकि मुझे पता न चले।"

पियक्कड़ तनिक संजीदगीसे बोला, "वाह भई वाह, तुम भी खूब आदमी हो। किसीका धर्म, ईमान बिगाड़ते तुम्हें तनिक भी संकोच नहीं होता। यह तो ख़ैरियत हुई कि मैं था। कोई और होता तो ज़ात जानेमें क्या देर लगी होती?"

१४ जून १९५५ ई०

पठान और जामुन

एक पठानने चार पैसेकी जामुनें लीं तो उसमें एक भौंरा भी आ गया। पठानने बग़ैर देखे ही जामुनें मुँहमें डालीं तो भौंरा भी मुँहमें चला गया और दाँत लगनेपर चीं-चीं करने लगा। पठान उसे कुचलते हुए बोला, "चीं कर या चूँ कर तुझे खाऊँगा ज़रूर, तुलकर आया है।"

१६ जून १९५५ ई०

सब्र करो

एक लालाजीकी भैंस मर गयी तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। यहाँतक कि उन्हें समझानेके लिए उनके इष्ट-मित्रोंको आना पड़ा। किसीने समवेदना प्रकट की, किसीने अफ़सोस ज़ाहिर किया, किसीने सान्त्वना देते हुए इस घटनाको विस्मरण करनेकी सलाह दी। इन्हीं मित्रोंमें-से एक तसल्ली देते हुए बोले, "भाई, फ़िक्र और रंज करनेसे क्या होता है, अब वह किसी हालतमें भी जीवित नहीं हो सकती। सब्र करनेसे ही काम चलेगा। आज-कल हम दोनों यारोंपर बुरे ग्रह लगे हुए हैं। मालूम होता है हर काली चीज़पर मौत मँडरा रही है। इधर किसीने तुम्हारी भैंस मारी, उधर मेरे सिरकी काली जूँ मेरी घरवालीने ही मार दी। सिवाय सब्र करनेके और क्या कर सकता था? मेरी-तुम्हारी एक-जैसी स्थिति है, अतः भाई तुम भी मेरी तरह सब्र करो।"

१६ जून १९५५ ई०

गधेका विश्वास

उदमी जाटको अपना कुछ सामान ढोनेके लिए गधेकी ज़रूरत हुई तो वह अपने पड़ोसी छिद्दा कुम्हारसे माँगने गया। गधा अन्दर घरमें बँधा हुआ था। मगर न देनेकी नीयतसे छिद्दा बोला, "चौधरी, गधा बाहर चरने चला गया है, रात तक आयेगा। घरपर होता तो तुम्हें देनेमें मुझे अपार हर्ष होता?"

इतनेमें ही अन्दर बँधे हुए गधेने पंचम स्वरमें अलाप लिया, तो जाट बोला, "क्यों जी, गधा तो अन्दर मौजूद है, फिर भी ये बहाना?"

कुम्हार बोला, "वाह चौधरी, तुम भी खूब हो। गधेकी ज़बानका विश्वास करते हो और मेरा विश्वास कुछ भी नहीं!"

दिसम्बर १९५२ ई०

ज़िन्दादिली

गरमियोंके दिन थे। औरोंकी तरह सोहन भी रात्रिको छतपर सोया हुआ था कि वह पेशाबको उठा तो अर्द्धनिद्रामें मुँडेरसे पाँव जो फिसला तो मकानसे लगे हुए ईखके खेतमें जा पड़ा। ग़रीबकी हड्डी-पसली टूट गयी। ब-मुश्किल उसे घर लाया गया। समवेदना प्रकट करनेवाले आये तो वह बोला, "आप केवल मेरी चोटको ही देखते हैं, यह नहीं देखते कि मुझे वहाँ गन्ने कितने चूसनेको मिले? गिरता नहीं तो गन्ना मुफ़्त चूसनेका अवसर कैसे मिलता?"

२ जुलाई १९५३ ई०

शहर बनते-बनते रह गया

पंजाबका एक देहाती हरिजन लाहौर शहर देखने पहुँचा तो अपने किसी ग़रीब रिश्तेदारके यहाँ ठहरा। शहरकी घनी आबादी और वह भी ग़रीबोंके मुहल्लेमें। उसे वहाँ सबसे अजीब और अनोखी बात यह देखनेमें आयी कि रसोईघर और शौचालयमें विशेष फ़ासला नहीं है। दोनों स्थान एक-दूसरेसे सटे हुए हैं। क्या गलियों, क्या बैठकखानों, क्या रसोईघरोंमें, सर्वत्र गन्दगी-ही-गन्दगी नज़र आयी। बेचारा देहाती दो-चार रोज़ उन गलियोंकी सैर करके गाँव चला गया।

गाँव पहुँचते ही उसने रसोईघरके नज़दीक शौचालय बनाना चाहा तो घरवालोंने उसे रोका। उनके रोकनेपर जब वह नहीं माना तो वे गाँवके पंचोंको बुला लाये। पंचोंके समझाने-बुझानेपर वह बोला, "ख़ैर, जब आप मना करते हैं तो न बनाऊँगा। वर्ना मैं तो आज ही गाँवको लाहौर शहर बनाकर छोड़ता। फिर किसीको शहर देखनेके लिए इतनी दूर न जाना पड़ता।"

२ जुलाई १९५४ ई०

ऊँटको कल

किसी ऊँटसे एक आदमीने पूछा, "क्यों भई, तेरी पूँछ टेढ़ी क्यों है ?"

ऊँट झल्लाकर बोला, "तू अजीब आदमी है ? भलेमानस, यह तो बता मेरा अंग सीधा कौन-सा है ? पाँव मेरे टेढ़े, पीठ-पेट मेरे टेढ़े, गरदन मेरी टेढ़ी, जीभ-आँख मेरी टेढ़ी ! फिर तू सिर्फ़ पूँछ टेढ़ी होनेका ही सबब क्यों पूछ रहा है ? मैं तो हर कोणसे टेढ़ा हूँ।"

जनवरी १९२६ ई०

भैंसके आगे बीन

एक देहाती अकस्मात् किसी संगीत-सम्मेलनमें पहुँच गया और गवैये-को अलापते देख बिलख-बिलखकर रोने लगा। अपने संगीतका इतना सफल प्रभाव होते देख गायक और अधिक अलाप लेने लगा। अलापके साथ-साथ बिलखना भी उत्तरोत्तर बढ़ता गया। गायनके बाद समीपमें बैठे हुए सज्जनने पूछा, "चौधरी, तुम तो संगीतसे बहुत प्रभावित हुए। मालूम होता है इस रागसे तुम काफ़ी परिचित हो।"

चौधरी बोला, "भाई, मैं इस रागसे ख़ूब परिचित हूँ। परसाल मेरा बकरा भी इसी तरह बिलबिलाकर मर गया। मैं क्या इस विलापको भूल सकता हूँ ? जब-कभी सुन लेता हूँ, सिर धुनने लगता हूँ।"

७ अगस्त १९५५ ई०

समझकी बलिहारी

एक मीरासी थका-हारा अपने गाँव लौट रहा था कि रास्तेमें नमाज़का वक़्त हुआ तो नमाज़ पढ़नेके बाद दुआ माँगते हुए अर्ज़ किया,

"या अल्लाह, मैं भी तेरा बन्दा हूँ। मुझपर भी अपनी रहमतकी बारिश कर। जिस हालमें तूने रख छोड़ा है, तू सब जानता है। न भर-पेट खाना, न ढंगका कपड़ा, फिर भी दिन-रात तेरा शुक्रिया अदा करता हूँ। तेरी बदौलत दिन गुज़र रहे हैं। तैंने दुनियाको कैसी-कैसी नेमतें बख्श रखी हैं, मुझे इसका गिला नहीं। मैं तो तेरी रज़ा (इच्छा) में ही राज़ी हूँ, और कुछ न दे, मगर एक छोटा-सा घोड़ा तो इनायत फ़र्मा। ताकि रिज़क़की तलाशमें गाँव-गाँव भटकते-भटकते टखने तो न सूजें।"

दुआ माँगकर मीरासी अभी मुसल्ला उठाने भी न पाया था कि सामने थानेदारको खड़ा देखकर काँप उठा। थानेदारकी घोड़ीने रास्तेमें बच्चा दे दिया था। वह किसी बेगारीकी तलाशमें ही था कि मीरासीपर उसकी नज़र पड़ी तो आदेश-भरे स्वरमें बोला, "ज़रा इस घोड़ीके बच्चेको काँधे-पर उठाकर साथ-साथ थाने ले चल।"

मीरासीको क्या मजाल जो चूँ-चरा करता। चुपचाप नवजात घोड़ीके बच्चेको कन्धेपर लाद लिया और मन-ही-मनमें बड़बड़ाया, "या अल्लाह, तू भी कैसा दिल्लगीबाज़ है? घोड़ा मैंने अपनी सवारीके लिए माँगा था और तूने मुझपर सवारी गाँठनेको घोड़ा भेज दिया। तेरी समझकी भी बलिहारी है।"

७ अगस्त १९५५ ई०

नूर टोकरों-भर बरसा

एक नौ मुस्लिम देहातीने मस्जिदमें मौलवीसे सुना कि 'हर मोमिनको नमाज़ पढ़ना लाज़िम है। नमाज़से चेहरेपर नूर बरसने लगता है। अगर कहीं वज़ूको पानी न मिले तो मिट्टीसे वज़ू करके नमाज़ पढ़नी जाइज़ है।'

नया मुसलमान अल्लाह-हो-अल्लाह पुकारता है। वह पुश्तैनी मोमिनोंसे भी बढ़कर अपनेको मोमिन साबित करना चाहता है। इसी रवायतके अनुसार नौ मुस्लिम देहाती भी प्रातःकालीन नमाज़ पढ़नेके लिए मुँह-अँधेरे उठा। घरमें पानी न था, अतः उसने मिट्टी लेनेको हाथ बढ़ाया तो कोयलेकी बुरकीपर हाथ पड़ गया। और अनजानेमें वही हाथ मुँहपर फेर ली। नमाज़ पढ़ते-पढ़ते दिन निकल आया था। बीवी उसको एकटक निहार रही थी।

नमाज़ पढ़ने और दुआ माँगनेके बाद देहाती मुस्कराते हुए बोला, "अभीसे क्या घूरती हो? दस-पाँच रोज़ नमाज़ पढ़ लूँ, तब चेहरेका नूर देखना।"

बीवी मुँह बिचकाकर बोली, "अगर इसीको नूर कहते हैं तो घटा बाँधकर आया है। टोकरों-भरके बरसेगा। सँभाले सँभाल न सकोगे।"

७ अगस्त १९५५ ई०

बातमें बात निकलती है

एक राजपूत हल चला रहा था कि उस तरफ़से गुज़रनेवाले उसके किसी पड़ोसीने टोका, "ठाकराँ, हल टेढ़ा चला रहे हो, तनिक सीधा रखो।"

राजपूत अपने हलको बजाय सीधा करनेके बोला, "यार, तेरे ब्याहमें परसाल ऐसे लड्डू खाये कि अभीतक पेटमें दर्द हो रहा है।"

पड़ोसीने पूछा, "भई, यह हलके टेढ़ेपनसे मेरे ब्याहका क्या सरोकार ?"

राजपूतने हल चलाते हुए जवाब दिया, "भाई, बातमें-से बात यूँ ही निकलती है।"

७ अगस्त १९५५ ई०

एक-सौ पचासवीं तारीख़

एक अनपढ़ शहरी मुसलमान देहातमें जाकर बसा तो उसकी लम्बी दाढ़ी, जबींके दाग़ और बातचीतके तौर-तरीक़ोंसे गांववाले उसे मौलवी समझ बैठे। लोग उससे चाँदकी तारीख़ पूछने आते तो वह तारीख़ बता देता। तारीख़ें बतानेकी उसने यह तरकीब निकाली हुई थी कि द्वितीयाको जब चन्द्रमा निकलता, लोटेमें बकरीकी एक मींगन डाल देता और प्रत्येक दिन उसमें एक-एक मींगनकी बढ़ोतरी करता रहता। पूछनेवाले मोमिनको बाहर बिठाकर अन्दर जाता और लोटेमें जितनी मींगनें पाता, बाहर आकर चाँदकी उतनी ही तारीख़ बता देता। गांववाले उसकी इस विद्या-बुद्धिसे बहुत प्रभावित थे।

क़ुदरत खुदाकी, एक रोज़ मौलवीकी बकरी कमरेमें घुस आयी और उस तारीख़ी लोटेको मींगनोंसे भर दिया। शामको एक मर्दे-मोमिनके तारीख़ पूछनेपर मौलवीने अन्दर जाकर मेंगनी गिनीं तो बहुत चकराया। बहुत पसो-पेशके बाद बाहर निकलकर बताया कि आज चाँदकी एक-सौ पचासवीं तारीख़ है।

मोमिन हैरतसे बोला, "मौलवी साहब, कहीं एक-सौ पचासवीं तारीख़ भी होती है?"

मौलवी साहब अपनी दाढ़ीपर हाथ फेरते हुए बोले, "ख़ुदा जानता है, तारीख़ तो आज चाँदकी तीन सौवीं है, मगर मैंने तुम्हारा लिहाज़ रखते हुए एक-सौ पचास कम बतायी हैं।"

७ अगस्त १९५५ ई०

उस्तादाना लटका

एक शिष्यने लालबुझक्कड़से पूछा, "गुरु, कौवेको किस तरह पकड़ना चाहिए ? एक आँख होते हुए भी इतना चालाक और चौकन्ना पंछी है कि न पूछिए।"

लालबुझक्कड़ विश्वास-भरे स्वरमें बोले, "बेटा, तरकीब तो बहुत आसान बताये देता हूँ। यदि फिर भी न पकड़ सको तो दुर्भाग्यके सिवा और क्या कहा जा सकता है। लो तनिक ध्यानसे सुनो। एक मोमबत्ती जलाकर चुपके-से उसके सिरपर जमा देना। मोम गल-गलकर उसकी आँखमें पड़ने-से जब वह अन्धा हो जाये, तब हाथ बढ़ाकर बा-आसानी उसे पकड़ लेना।"

शिष्यने निवेदन किया, "गुरु, यदि कौवा मोमबत्ती अपने सिरपर रखने दे तो फिर इतने झंझटकी क्या आवश्यकता है ? सिरपर मोमबत्ती रखनेके बजाय उसका सिर ही क्यों न पकड़ लिया जाये ?"

लालबुझक्कड़ संजीदगीसे बोले, "बेटा, उपाय तो तुम्हारा भी खूब है, मगर इसमें उस्तादाना लटका नहीं है।"

७ अगस्त १९५५ ई०

नानीका लतीफ़ा

कुछ व्यक्ति इस प्रवृत्तिके होते हैं कि अपराध करनेपर पछतावेके बजाय उन्हें गर्व होता है, और उन कुकृत्योंको बखान करते हुए वे आनन्द-का अनुभव करते हैं।

हम बच्चोंसे जब कोई नुक़सान हो जाता, परस्पर मार-पीट कर बैठते, ज़िद, ढीठता या उद्दण्डतापर उतर आते और भूल माननेके बजाय अपने पक्षको उचित ठहरानेका प्रयत्न करते तो मेरी नानी जो कि शारीरिक दण्ड देना कभी जानती ही न थीं, निम्न लतीफ़ा कुछ इस ढंगसे कहा करती थीं कि सुनकर प्रकट रूपमें तो कम, परन्तु मन-ही-मनमें हम बहुत लज्जित होते थे।

"एक बेहयाकी पीठपर पेड़ निकल आया तो अड़ोसी-पड़ोसी उसके पास समवेदना प्रकट करनेके लिए पहुँचे। उनको देखकर बेहया शर्मिन्दा होनेके बजाय शेख़ीसे बोला, इसमें दुःखकी क्या बात है? यह तो अच्छा ही हुआ। अब धूपसे हिफ़ाज़त भी रहेगी और दुनियामें नाम भी होगा।"

७ अगस्त १९५५ ई०

शाबाश तेरी हिम्मत

एक गँवार किसी शहरी बारातमें गया तो वहाँ वेश्या-नृत्यका भी आयोजन था। वेश्याको इतने पुरुषोंमें नाचते देख उसे बहुत अचम्भा हुआ। उसके तनिक विश्राम लेनेपर चुपके-से पूछा, "चों लाली, तेरो अभी ब्याह हुओ कि नाय ?"

वेश्याने नकारात्मक गरदन हिला दी।

गँवार रात-भर आश्चर्यचकित-सा महफ़िलमें नृत्य देखता रहा। वेश्याकी एक-एक अदापर लोग लहालोट होते। उसकी मुस्कानपर लोग छेड़ते, आवाज़ें कसते तो वह उत्तरोत्तर शोख़ और चंचल होकर थिरकने लगती। तमाशाइयोंके मज़ाक़का कभी ऐसा बरमहल जवाब देती कि लोग बग़लें झांकने लगते, और कभी इस तरह झेंपती कि कलेजा मसोसकर रख देती।

गँवार रात-भर दम-ब-खुद उसकी यह सब दीदा-दिलेरी देखता रहा। प्रातःकाल महफ़िल समाप्त होनेपर उसके पास जाकर चुपके-से बोला, "साबास तेरे माता-पितान कूँ। जिनने तोय जनम दियो। इतने मरदनमेतें तू अपनो धरम बचायके अछूती जा रही है। साबास तेरी हिम्मत कूँ।"

७ अगस्त १९५५ ई०

चकमा

एक बार एक सज्जन चाँदनी चौकमें कूचा रहमानके पास खड़े हुए सौदा ख़रीद रहे थे। सामान ख़रीद चुकनेपर बटुएमें-से रुपया निकालकर उन्होंने दूकानदारको दिया और बाक़ीके रुपये दूकानदारके लौटानेपर वह जो गिनकर बटुएमें रखने लगे तो बटुआ ग़ायब। ग्राहकने समझा यह काम दूकानदारके सिवाय और कोई नहीं कर सकता। अतः वह उसके सिर हो गया। दूकानदार परेशान कि या परमात्मा क्या करूँ, व्यर्थमें बदनाम हुआ जाता हूँ। देखते-देखते भीड़ इकट्ठी हो गयी। इतने ही में एक हज़रत तशरीफ़ लाये और बोले,

"अमाँ, क्या बात है? क्यों नाहक़ लड़ रहे हो?"

बटुआ खोये जानेका हाल बतानेपर वही हज़रत एक बटुआ दिखाकर बोले, "देखिए, यह तो आपका बटुआ नहीं है।"

ग्राहक महोदय बटुएको हाथमें लेकर और उसमें-की रक़म गिनकर बोले, "बेशक, यही मेरा बटुआ है। अच्छे मियाँ, तुम्हारे हाथ यह क्योंकर लगा?"

मियाँ साहब ज़रा मुस्कराकर बोले, "तुमने बटुएमें-से रुपया निकालकर दूकानदारको दिया और नाँवाँ गिननेके वक़्त उसे दूकानपर रख दिया। बस तुम नाँवाँ गिननेमें मशग़ूल हुए और मैंने इस खयालसे कि इनको यहाँके उठाईगीरोंसे होशियार करनेके बहाने ज़रा नसीहत दे दूँ, चुपके-से इस तरह खिसका लिया और चट इस पासकी गलीमें घुसकर इस तरह ग़ायब हो गया।"

ग्राहक महोदय और खड़े हुए तमाशाई यह समझते रहे कि मियाँ साहब बटुआ उड़ानेका करतब दिखा रहे हैं, गलीमें-से अब आते होंगे, किन्तु यह हज़रत इस बार सचमुच ही ग़ायब हो गये। ग्राहक महोदयने जो घबराकर देखा तो वह गली दूसरी तरफ़ बल्लीमारानको भी निकल गयी थी। वहाँ उन हज़रतका कहीं पता तक न था। हाँ, खाली बटुआ पड़ा हुआ अपनी क़िस्मतको अलबत्ता रो रहा था। ग्राहक बेचारा सिर पीटकर रह गया। उसीके हाथोंमें-से इस सफ़ाईसे बटुआ लेकर चम्पत हो गया। अब वह किसीसे क्या कह सकता था? तमाशाई उठाईगीरेके इस फ़नकी दाद दे रहे थे और ग्राहक खड़ा रो रहा था।

जनवरी १९३२ ई०

अवसरवादी

एक मोमिन नमाज़से बहुत घबराता था। मगर कुछ ऐसे वातावरणमें रह रहा था कि छुटकारेका कोई उपाय नहीं था। रोज़ानाकी पंज-वक़्ती नमाज़से वह तंग आ चुका था कि एक रोज़ नमाज़के बाद मौलवी साहबने वाज़में फ़र्माया,

"मोमिनो, मत पढ़ो नमाज़, जब कि तुम नापाक़ हो।"

उक्त हज़रत मौक़ेकी तलाशमें थे ही, नमाज़ पढ़नी क़तई तर्क कर दी। एक रोज़ मौलवी साहब रास्तेमें मिले तो उन्होंने पूछा, "क्यों हज़रत, कहीं बाहर गये हुए थे क्या ?"

"नहीं तो।"

"क्या हुज़ूरके दुश्मनोंकी तबीयत कुछ नासाज़ थी ?"

"जी नहीं, ख़ुदाका शुक्र है।"

"कई रोज़ मस्जिदमें दिखाई नहीं दिये।"

"मस्जिदमें आकर क्या करता ?"

"करते क्या ? नमाज़ पढ़ते ! वाज़ सुनते।"

"नमाज़ पढ़ता ? नमाज़को तो आपने उस रोज़ वाज़में मना कर दिया था, 'मोमिनो, मत पढ़ो नमाज़' यह आपने क़ुरानकी आयत पढ़कर हुक्म सुनाया था।"

"अजी हज़रत, उससे आगेका जुमला भी तो सुना होता।"

"मौलवी साहब, आप भी बहुत भोले हैं। जब पहले जुमलेसे ही काम निकल जाये, तब दूसरा जुमला सुननेके क्या मानी ?"

१६ सितम्बर १९५५ ई०

दोस्तीका भरम

एक गाँवमें चार यार बहुत मशहूर थे। उनमें-से एक ब्राह्मण, दूसरा वैश्य, तीसरा जाट और चौथा नाई था। गाँव-भरमें उनका दबदबा था। चारों यार साथ रहते और जहाँ भी जाते रौब जमा लेते। मनमानी करते, उत्पात मचाते, परन्तु कोई चूँ भी न करता। किसकी शामत आयी थी जो उनसे झगड़ा मोल लेता। पैसेका, बुद्धिका, लाठीका, चतुराईका सभी तरहका ज़ोर था।

एक रोज़ किसी मेलेमें जाते समय रास्तेके खेतसे चारों यारोंने चूसनेके लिए गन्ने उखाड़ लिये। उनकी इस हरकतसे किसानको बहुत ताव आया। "खानेके लिए दस-पाँच गन्ने माँगते तो क्या मैं मना कर देता? यह तो सरासर ज़्यादती है। आज इन्हें मज़ा चखाना चाहिए। इन्हें अपनी मित्र-मण्डलीपर बहुत घमण्ड हो गया है। मनमानी करते हैं, किसीको कुछ नहीं समझते। गाँव-भरके नाकमें दम कर रखा है। आज इनका बल तोड़ना ही चाहिए।" सोचता हुआ किसान मुसकराकर बोला, "सरदारो, मेरी एक बात सुनते जाओ।"

चारों यार ठहर गये तो किसान बोला, "आपने बड़ी किरपा करी जो हमारे खेतमें पधारे। पर एक बात मुझे बहुत खटकी। ब्राह्मण देवता हमारे पूज्य, लालाजी हमारे महाजन, जाट हमारा भाई, जितने चाहें गन्ने तोड़ें उनका हक़ है। मगर मैं पूछता हूँ इस नाई कमीनेने गन्ने क्यों तोड़े? आप तनिक हट जायें, मैं इसे छेते बिना न मानूँगा।"

तीनों कुलाभिमानी यार देखते रहे और नाई जाटसे पिटता रहा। नाईको खेतसे निकालकर जाट बोला, "दूसरी बात मैं यह पूछूँ हूँ कि ब्राह्मण

तो ख़ैर पूज्य, जाट हुआ भाई, मगर इस लालाने गन्ने क्या समझकर उखाड़े ? महाजन है तो क्या हुआ ? रुपयेका व्याज नहीं लेता क्या ? रत्ती-भर हींगके पैसे भी वसूल कर लेता है, फिर मेरा गन्ना मुफ़्त क्यों चूसेगा ?"

ब्राह्मण देवता और जाट देखते रहे और लालाजीके ताबड़तोड़ लात-घूँसे लगते रहे। लालाजीको खेतसे खदेड़नेके बाद किसानने ब्राह्मण देवता-की तरफ़ रुख किया। "क्यों रे पण्डत, यह जाट तो अपना बिरादर-भाई कुछ ही करे, पर तैंने गन्ना क्यों तोड़ा ? जनम-मरन, ब्याह-महूरत आदि बात-बातमें तू हमको ठगता रहता है। तेरा क्या लिहाज ?"

किसानने पण्डितजीको भी चपतियाकर खेतसे धक्का दिया। जाट खुश कि तीनों पिटे केवल मैं ही बचा। इतनेमें ही किसान पलटकर आया और जाटको पटखने देने शुरू किये। "क्यों बे भाई-बिरादर होकर तूने यह हरकत क्यों की ? क्या तुझे मालूम नहीं कि किसान जब अपना खून-पसीना एक करता है, तब गन्नेमें रस पड़ता है।"

जाट भी पिटकर बाहर निकल आया। शाम होते-होते गाँव-भरमें उनकी दोस्तीका भंडा फूट गया और उनके रोब-दाब सब खाक़में मिल गये।

४ अक्टूबर १९५५ ई०

तिनकेकी ओट

"मुन्शीजी, आपका साहबज़ादा महफ़िलमें बैठा शराब पी रहा है। यक़ीन न हो तो चलकर अपनी नज़रोंसे देख लें।"

मुन्शीजी महफ़िलमें पहुँचे तो वहाँ सचमुच दौरे-शराब चल रहा था। पिताको सामनेसे आता देखा, पर इधर-उधर होनेकी कहीं भी गुंजाइश न थी। लाचार पास पड़े तिनकेकी ओट कर ली। मुन्शीजी बग़ैर कुछ कहे उलटे पांव लौट आये तो चुग़लखोरने पूछा, "मैंने कितनी जाँफ़िशानीसे उसे रँगे हाथों पकड़वाया, फिर भी आपने कुछ नहीं कहा।"

"कहनेकी ज़रूरत नहीं समझी।"

"क्यों?"

"अभी उसकी आँखोंमें लिहाज़ बाक़ी है?"

"आँखोंमें लिहाज़ बाक़ी है! यह भी आपने खूब कहा! सामने बैठा पीता रहा, फिर भी कहते हैं, लिहाज़ बाक़ी है।"

"हाँ भाई, अगर छिपनेका अवसर पाता तो वह अवश्य छिप जाता। फिर भी उसने तिनकेकी ओट कर ली। यानी अभीतक वह मुझे बाप और मै-ख्वारीको पाप समझता है। जबतक उसमें यह समझ शेष है, उसके उद्धारकी भी आशा है। सबके सामने ज़लील करनेसे आँखोंका लिहाज जाता रहता और उद्धारकी यह क्षीण आशा भी समाप्त हो जाती।"

४ अक्टूबर १९५५ ई०

बोये पेड़ बबूलके···

एक कंजूस था। उसने जीवन-भर किसीको कुछ नहीं दिया। देनेके नामपर तो वह किसीको धक्का भी नहीं देता था, फिर भी उसकी घुड़-सालसे कोई लीद उठाने आता तो वह मना नहीं करता था, चुप रहता था।

मरनेपर वह स्वर्ग पहुँचा तो वहाँका वातावरण देखकर बहुत उत्फुल्ल हुआ। अकस्मात् दूर सामनेकी ओर नज़र गयी तो लीदका अम्बार लगा देख उसने परिचारिकासे पूछा, "स्वर्गमें वह सामने दुर्गन्धमय वस्तु क्यों ?"

"आपके भोजनके लिए।"

"क्या बकती हो ?"

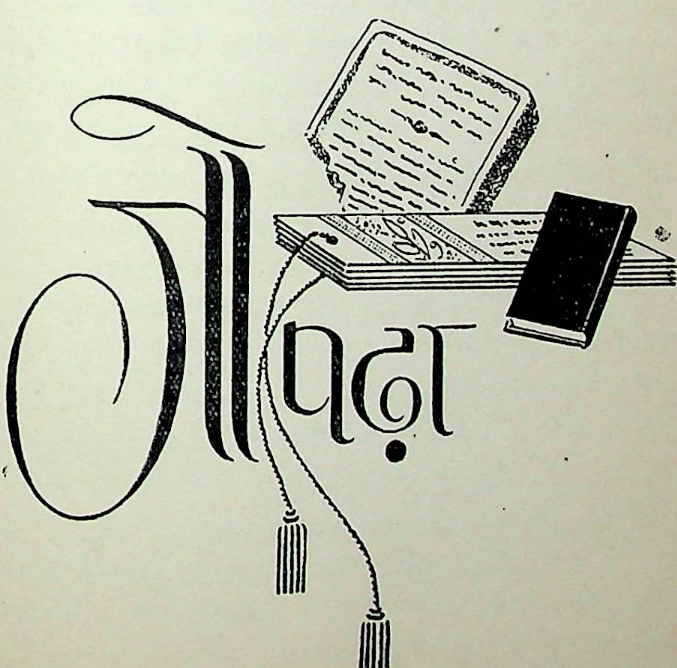
"सत्य ही निवेदन किया है। यहाँका नियम है कि जो प्राणी जैसा बोता है, वैसा ही फल चखता है। बबूलके पेड़ बोनेपर यहाँ आम नहीं चख सकते।"

"फिर मुझे स्वर्गमें क्यों लाया गया ? इससे तो नरक ही श्रेष्ठ था।"

"वहाँ आपके लिए स्थान सुरक्षित है, परन्तु जीवनमें आपने जितना और जैसा दान-पुण्य किया है, उसकी पूर्तिके लिए यहाँ आना अवश्यम्भावी था।"

कंजूस मारे भयके बेहोश हो गया।

४ अक्टूबर १९५५ ई०



साहित्य-स्रष्टाओंकी विचार-छायामें बैठकर
जो पढ़ा

•

रावणकी सीख

रावण जब रण-क्षेत्रमें भू-लुण्ठित हो गया, तब रामने लक्ष्मणको आदेश दिया कि वह लंकेशसे उसके स्वानुभव सुनकर आये। बड़े भाईका आदेश होनेपर भी लक्ष्मण संकोचमें पड़ गये। रावण-जैसे आततायीके कुकृत्यसे जिसका रोम-रोम क्षुब्ध हो, उसी भू-भारके समीप जानेके लिए आदेश और वह भी स्वानुभव पूछनेके लिए। लक्ष्मण उद्विग्न हो उठे।

रामसे लक्ष्मणका यह मनोभाव अव्यक्त न रह सका। वे वात्सल्य-भावसे बोले, "वत्स, रावणसे हमारा कोई द्वेष-भाव न था। केवल उसके निन्द्य कर्म ही से विरोध था। हमारे बार-बार प्रयास करनेपर भी जब उसने दुराग्रह न छोड़ा, तभी उसका वध करना पड़ा। उसके पार्थिव शरीरके साथ-साथ हमारा वैर-भाव भी समाप्त होना चाहिए।"

फिर तनिक मुस्कराते हुए बोले, "भाई, इस असार संसारसे तो सभीको अपनी-अपनी बारीसे जाना है; किन्तु वह अपयश लेकर जा रहा है। इसलिए वह और भी दयाका पात्र है। वह आयुमें हमसे बहुत बड़ा है। उसने दुनिया देखी है; जीवन-भरके शासनका उसे अनुभव है। मोतियोंको खारे समुद्रमें ग़ोता मारकर ही निकाला जाता है। रत्न यदि अपावन स्थानमें पड़ा हो, तो भी उसे कोई नहीं छोड़ता। फिर रावण-जैसे वयोवृद्ध, अनुभवी शासककी सीख लेनेसे हम क्यों चूकें ?"

मन मारकर लक्ष्मण धराशायी रावणके समीप गये, कुछ स्वानुभव बतलानेके लिए, जिज्ञासा प्रकट की; किन्तु रावणने उनकी ओर देखा तक नहीं। शान्त भूमिसात् पड़ा रहा। लक्ष्मण क्षुब्ध मनसे लौट आये।

राम स्नेह स्वरमें बोले, "यशस्वी, मालूम होता है तुम लंकेशके सिरहाने खड़े होकर सीख लेना चाहते थे। सीख तो नम्र और विनयी बनकर ही प्राप्त होती है। तिसपर वह लंकाधिपति, अभिमानी, शत्रु। यूँ सहजमें ही तुम्हारे लाभार्थ स्वानुभव वह क्यों व्यक्त करता? कोई कितना ही महान् हो, लेनेके लिए तो उसे झुकना ही पड़ता है। इतना बड़ा समुद्र भी क्षुद्र नदी-नालोंसे पानी लेनेके लिए उनसे नीचे ही रहता है।"

अपनी भूल समझकर अबकी बार लक्ष्मण एक विनीत विद्यार्थीकी तरह रावणके पाँवोंकी ओर खड़े होकर नम्रतापूर्वक बोले,

"लंकेश, मैं आपसे कुछ सीख लेने आया हूँ।" लक्ष्मणके इस व्यवहारसे कराहते और छटपटाते रावणके मुँहपर एक स्मित-रेखा खिंच गयी। वह रही-सही शारीरिक-शक्ति बटोरते हुए अस्फुट स्वरमें बोला,

"रामानुज, लंकेश तो मेरे जीवनकालमें ही तुम्हारे भाईने बन्धु-द्रोही विभीषणको बना दिया था। अतः मुझे लंकेश न कहो। इस सम्बोधनसे तुम अपने भाईकी अभिलाषाका अपमान...!"

फिर कुछ क्षण निस्तब्ध रहनेके बाद रावण सुप्तावस्था-जैसी स्थितिमें बोला,

"मैं क्या और मेरी सीख क्या? सीता-अपहरणकी एक ही भूलने जन्म-जन्मान्तरोंके सुकृत्योंपर पानी फेर दिया। फिर भी सीख देनेका पात्र समझते हो तो हृदय-पटलपर अंकित कर लो,

१. शुभकृत्योंको करनेमें पल-भरका विलम्ब भी वाञ्छनीय नहीं।
२. क्रोधावेशमें कोई भी कार्य समुचित नहीं।
३. दुष्कृत्य करनेसे पूर्व गुणीजनोंकी अनुमति लेना अनिवार्य।"

रावण कुछ क्षण फिर मौन हो गया। वह नहीं चाहता था कि उसकी शारीरिक वेदनाका तनिक भी आभास लक्ष्मणको मिले। अतः मनोव्यथाको किसी तरह मन्थन करके बोला,

"सुमित्रा-नन्दन, मुझसे जीवनमें यही भूल हुई कि मैं स्वयं इनका महत्त्व न समझ सका। शुभ कार्य कलपर टालता रहा। क्रोधावेशमें भाईको खदेड़ दिया। सीता-हरण-जैसा दुष्कृत्य तुरन्त कर डाला। किसीकी अनुमति नहीं ली।" कहते-कहते लंकेशके शरीरमें एक सिहरन-सी हुई। उसने अपने अर्द्ध-उन्मीलित नेत्र लक्ष्मणके नेत्रोंसे मिलाते हुए कहा, "वत्स, एक बात कहूँ, यदि तुम रामसे कहनेका साहस कर सको ?"

लक्ष्मणके मौन रहनेपर लंकेश बोला, "कह सको तो कहना, "तुम्हारी संगठन-शक्ति, बन्धु-प्रेम, नारी-सम्मान, मातृ-पितृ-भक्ति आदि गुण जहाँ संसारमें सुयश बढ़ायेंगे; वहां विभीषण-जैसे भ्रातृ-द्रोहीको कार्य-सिद्धिके लिए साधन बनाना और अपहृता सीताकी अग्नि-परीक्षा लेना अपयशके कारण होंगे। लंकामें केवल एक विभीषण था, किन्तु उनके इस उदाहरणसे आर्यावर्त्तमें असंख्य विभीषण होते रहेंगे। और असंख्य सीताएँ अग्नि-परीक्षा देनेको विवश होती रहेंगी, फिर भी परित्यक्ता ही रहेंगी....!"

लंकेश सम्भवतः कुछ और कहता, परन्तु तीन हिचकियोंके साथ उसके प्राण-पखेरू उड़ गये।

१६ मार्च १९५५ ई०

जटायुका तर्पण

जटायु एक निम्न कोटिका पक्षी था, वृद्ध एवं शिथिल। फिर भी उसका हृदय वीरत्व और शौर्यसे परिपूर्ण था। उसके नेत्र यद्यपि ज्योति-न्यून हो चले थे, फिर भी उनमें उस ग़ैरतका अंश शेष था, जो अन्यायको देखकर खौल उठता है।

वह वृद्धावस्थाके दिन शान्ति और सन्तोषपूर्वक यापन कर रहा था कि उसके कानोंमें नारी-क्रन्दन पड़ा तो वह सिहर उठा और यह देखकर कि एक अबला सुकुमारीको आततायी अपहरण करके लिये जा रहा है, वह तड़प उठा। वह नर ही क्या जो किसी नारीका अपमान होता हुआ देखता रहे? यह दृश्य उसके लिए चुनौती था। न उसका अपहृतासे कोई राग था, न आततायीसे कोई द्वेष। उसके सामने तो केवल नरका कर्त्तव्य था। वह पक्षी धर्म-अधर्मकी सूक्ष्म व्याख्यासे अनभिज्ञ था। वह तो केवल अन्याय-सहन करना अधर्म और असहायकी सहायता करना धर्म समझता था।

उस जांबाज़ने तुरन्त पूरे वेगसे रावणपर आक्रमण किया। आक्रमण करनेसे पूर्व वह रावणके और अपने बलाबलको जानता था कि हाथी और मच्छरकी लड़ाई है। अबलाको छुड़ाना तो दरकिनार अपना भी नाश निश्चित है। फिर भी वह रावणपर टूट पड़ा और रावणको क्षत-विक्षत करके वीर-गतिको प्राप्त हुआ।

अपने इस बलिदानसे भावी पीढ़ीके लिए यह आदर्श उपस्थित कर गया कि आततायी कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, उसका विरोध प्राणोंकी बाज़ी लगाकर भी करना चाहिए। जटायुके उस आदर्शका ही शायद यह

परिणाम है, कि लोग शान्ति-शान्ति और क्षमा-क्षमाके कोलाहलमें भी आततायियोंका विरोध करते हुए अपना रक्त बहाकर जटायुका तर्पण करते रहते हैं।

१ दिसम्बर १९४६ ई०

एक प्रश्न

रावण-जैसा विजयी सम्राट् नारी-तेजके समक्ष भिक्षुक बननेको बाध्य हुआ; रौरव नरकमें गिरा और सदा-सदाको कलंकित हुआ। इससे अधिक नारी-तेजकी महिमा और क्या हो सकती है? परन्तु प्रश्न तो यह है कि जिस शिव-धनुषको रावण-जैसा महाबली, विश्वविजयी हिला तक नहीं सका, उसी शिव-धनुषको बाल्यावस्थामें सहज स्वभावसे उठाकर अपने बल-पराक्रमका परिचय देकर जिस सीताने सबको चकित कर दिया, वही सीता अपहरणके समय रावणपर टूट क्यों नहीं पड़ी? निहत्थी थी तो दाँतों-से रावणकी नाक काटी जा सकती थी, उँगलियोंसे आँखें कुचाई जा सकती थी। मुँह बकोटा जा सकता था। छीना-झपटीमें देर लगनेसे राम-लक्ष्मण-के आ पहुँचनेकी सम्भावना थी। शोर-पुकार सुनकर गोंड-भील भी पहुँच सकते थे?

यदि वहाँ अभाग्यवश हतप्रभ या विवश हो गयी या चूक गयी तो जैसे द्रौपदीने कीचकको बहकावेमें डालकर भीम-द्वारा उसका वध करवा दिया था, उसी तरह सीताने रावणको चकमा देकर सोतेमें उसका वध क्यों नहीं किया? अवसर देखकर उसके महलोंमें आग क्यों नहीं लगा दी?

यदि सीताने अपने अन्य लोकोत्तर आदर्शोंके साथ-साथ आततायीको नष्ट करनेकी लीक भी डाल दी होती तो जैसे उनकी पुत्रियाँ उनके पातिव्रत एवं शील-सदाचारका अनुकरण करती चली आ रही हैं, वैसे ही उस लीक-पर भी चलकर आततायियोंको पनपने नहीं देतीं, उनका जड़-मूलसे नाश ही कर दिया होता।

सिंहनीके सदृश सीता आततायीके बन्धनमें गायकी तरह क्यों बिलखती-तड़पती रही ?

जब मैं अपहरणके दुःखद काण्ड सुनता हूँ तो मेरा घायल मन खून उगलने लगता है और उक्त प्रश्न मुझे झकझोर डालता है।

१ दिसम्बर १९४६ ई०

रामकी भूल

रावणका वध हो जानेपर सीता रामके शिविरमें आयी। सीता सोचती थी, "राम मुझे देखकर विह्वल हो उठेंगे, वे मुझे हृदयसे लगानेको दौड़ेंगे और मैं चटसे उनके चरणोंमें गिर जाऊँगी, उठायेंगे तो भी न उठूँगी और रोकर भीख माँगूँगी कि नाथ, अब यह चरण-सेवा पल-भरको भी न छूटने पावे।" किन्तु सीताकी यह आशा हवामें तैर गयी। रामने सीताकी ओर देखा भी नहीं। गुप्तरूपसे हनुमान्‌से सीताके पवित्र बने रहनेकी बात पाकर भी उनका हृदय अविश्वासी हो उठा।

कहा जाता है कि वे सीताके सतीत्वकी ओरसे निश्चिन्त थे, किन्तु लोकलाजके लिए अग्नि-परीक्षा आवश्यक थी। हम कहते हैं यही सबसे बड़ी भूल रामने की। रावणके यहाँसे असती लौटनेपर भी सीताका कोई अपराध नहीं होता। बलवान् आततायियोंके आगे शारीरिक सतीत्व रह ही नहीं सकता, फिर सतीत्व तो आत्माकी वस्तु है, उसका कोई भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता? यदि पुद्‌गलको कोई दुष्ट बलात् अपवित्र करता है तो इससे सतीका क्या बिगड़ता है? सीताका सहर्ष स्वागत करके यदि राम यह परिपाटी डाल जाते कि हरण की हुई स्त्रियाँ हर दशामें पवित्र हैं और उन्होंने यदि सीताकी आलोचना करनेवाले नीच धोबीकी यह कहकर जिह्वा काट ली होती कि जो निरपराध नारीको दोष लगाता है, उसको यही दण्ड मिलता है, तो आज स्त्रियोंकी जो यह दुरवस्था हो रही है, न हुई होती।

आज तो स्थिति यह है कि हमारी जो बहन-बेटी गयी, सो गयी; क्यों कि यदि उसे लौटनेका अवसर मिलता भी है और वह आना भी चाहती है,

तो वह सोचती है कि जहाँ मैं जा रही हूँ, वहाँ मेरे लिए स्थान कहाँ है ? जूतेमें परसी रोटियाँ मिलेंगी और चारों ओर घृणा-भरी आँखोंकी छाया। ऐसे अवसरोंपर पुरुष तो पुरुष, स्त्रियाँ भी अपनी उस बहनको सम्मान या प्यार नहीं दे पातीं। उनके व्यंग्यबाण तो उस समय इतने पैने हो जाते हैं कि कलेजेको बींधनेमें चूकते ही नहीं।

अपहृत हो जानेपर भी आज नारीको जहाँ यह सीखना है कि वह हताश न हो और अपना गुरीला युद्ध जारी रखे, वहाँ हमें भी तो अपनी मनोवृत्तिमें परिवर्त्तन करना है। यह परिवर्त्तन ही तो उस योद्धा नारीका असली बल है। प्यार और मानकी दुनिया उजाड़कर ठोकरोंके संसारमें कौन आना चाहेगा ? जो काम रामने नहीं किया, वह आजके समाजको करना है, उसे जीना है तो यह करना ही होगा। अपहरणसे लौटी हुई स्त्रियोंको भरपूर सम्मान मिलना चाहिए। उन्हें उनका स्थान मिलना चाहिए। उनके लिए सम्मान और स्थानकी गारण्टी करके ही हम इस भूलका प्रायश्चित्त कर सकते हैं।

दिसम्बर १९४६ ई०

बुढ़ियाकी नसीहत

राजा नन्दसे अपमानित होकर चाणक्य प्रतिहिंसाकी भावना लिये किसी ऐसे व्यक्तिकी खोजमें भ्रमण करने लगा जो नन्द-साम्राज्यको विध्वंस करनेकी सामर्थ्य रखता हो। खोजते-खोजते सुकुमार चन्द्रगुप्तपर उसकी दृष्टि जमी। चन्द्रगुप्त यद्यपि मौर्य-राज्यवंशमें उत्पन्न हुआ था, किन्तु उसके बाप-दादाओंसे राज्य छिन जानेके कारण उसकी माता गर्भावस्थामें अपने मायकेमें दिन काट रही थी। ननिहालमें ही चन्द्रगुप्तका जन्म हुआ।

चन्द्रगुप्त बचपनसे ही मेधावी और शूर-वीर था। उसकी बाल्य-सुलभ क्रीड़ाओंमें उसके भविष्यका आभास मिलता था। ऐसी ही क्रीड़ाओंसे प्रभावित होकर सुकुमार चन्द्रगुप्त मौर्यको चाणक्य अपने साथ ले गया, और उसे बहुत शीघ्र युद्धविद्यामें निपुण कर दिया। जब चन्द्रगुप्त सैन्य-संचालन-योग्य हो गया तो चाणक्यने रसायन-सिद्धि-द्वारा जो द्रव्य प्राप्त किया था, उस धनसे कुछ सेना एकत्र की और उसे लेकर दोनों विजय-यात्राको निकले। साहस तो महान् था, किन्तु मुट्ठी-भर अशिक्षित सैनिक सबल राष्ट्रोंके समक्ष क्या खाकर ठहरते? लाचार युद्ध-क्षेत्रका परित्याग करना पड़ा। शत्रुओंके गुप्तचरोंसे बचते हुए छद्मवेशमें उपयुक्त अवसर और आवश्यक सहायताकी खोजमें चाणक्य और चन्द्रगुप्त मौर्य गाँव-गाँवमें घूम रहे थे कि एक रात्रिको किसी गाँवमें एक बुढ़ियाके यहाँ आश्रय लिया।

बुढ़िया उस समय गरमागरम खिचड़ी अपने बच्चोंको दे रही थी। बच्चोंमें-से एकने उतावलीमें गरमागरम खिचड़ीके बीचमें हाथ डाला तो

हाथ झुलस जानेसे वह चीख़ उठा। बच्चेकी यह हरकत देखकर बुढ़िया बोली, "अरे मूर्ख, तू भी चाणक्य-चन्द्रगुप्तके समान अबोध ही रहा।"

बुढ़ियाके मुँहसे यह वाक्य सुनकर इन्होंने पूछा, "माई, यह चाणक्य-चन्द्रगुप्त कौन हैं? और इस लड़केका हाथ झुलस जानेसे उनकी मूर्खताके साम्यका क्या प्रयोजन है?"

बुढ़ियाने सहज भावमें कहा, "चन्द्रगुप्त और चाणक्य देश-विजयकी महत्त्वाकांक्षा रखते हैं। उन्होंने सीमाओंके राज्योंको विजय किये बग़ैर मध्यराज्यपर आक्रमण कर दिया। परिणामस्वरूप वे चारों तरफ़से घिर गये और युद्ध-परित्याग करके भागना पड़ा। यदि वे सीमाओंके राज्योंको एक-एक करके वशीभूत करते तो यही सीमान्त-राज्य उनका विरोध करनेके बजाय विजय-अभियानमें सहायक होते। वही मूर्खता इस बालकने भी की। यदि इसने किनारेसे खिचड़ी खानेका प्रयास किया होता तो हाथ क्यों झुलसता?"

बुढ़ियाका मार्मिक संकेत पाकर दोनोंको अपनी भूलका आभास हुआ। वे मन-ही-मन उसको प्रणाम करके वहाँसे रवाना हुए और बहुत शीघ्र एक विशाल सैन्यसंगठन करके सीमान्त देशों और मार्गके राज्योंको विजय करते हुए, उनके शासकोंको अपनी ओर मिलाते हुए, उत्तरोत्तर पाटलिपुत्र तक बढ़ते गये और तत्कालीन भारत-सम्राट् नन्दपर आक्रमण करके उसे विजय कर लिया और ३२२ ई० पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य स्वयं भारतका सम्राट् बन गया।

अक्टूबर १९३२ ई०

न्यायकी स्मृति

गुजरात-नरेश चौलुक्य जयसिंहके शासन-कालमें खम्बातके कुछ पारसियों और हिन्दुओंने वहाँकी मस्जिद शहीद कर दी। मस्जिदके इमामने स्थानीय राज्य-अधिकारियोंसे फ़रियाद की, किन्तु सम्प्रदायके मोहवश उनके कानपर जूँ तक नहीं रेंगी। निराश होकर वह महाराजा जयसिंहके दरबारमें प्रार्थी हुआ।

महाराजा बग़ैर किसीको सूचना दिये खम्बात गये। वहाँ गुप्त वेशमें तीन रोज़ तक इधर-उधर घूमकर वास्तविक स्थितिका पता लगाते रहे और जब यह निश्चय हो गया कि मस्जिद शहीद करनेमें अमुक वर्गका हाथ है, तब उन वर्गोंके दो-दो सरग़ने बुलाकर दण्डित किये। राज-कोषसे मस्जिदका पुनः निर्माण कराया, इमामको खिलअ़त प्रदान की। और राज्य-भरमें घोषणा की, "हमारे राज्यमें सभी वर्गोंको स्वतन्त्रतापूर्वक अपने-अपने धर्म-पालनका अधिकार है। कोई भी सम्प्रदाय एक-दूसरेके धार्मिक भावोंको चोट नहीं पहुँचा सकता। अपराधी किसी भी सम्प्रदायका हो, बग़ैर किसी भेद-भावके उसे दण्ड दिया जायेगा।"

सुनते हैं उस खिलअ़तको मस्जिदके उत्तराधिकारियोंने उस न्यायकी स्मृतिस्वरूप जनताको दिखानेके लिए बहुत यत्नपूर्वक सँभाल कर रख छोड़ा है।[1]

१६ मार्च १९५५ ई०

---

१. मुन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ़-द्वारा संकलित 'इन्साफ़-संग्रह'के आधारपर।

सवाई जयसिंहका यह आदर्श

एक बार जयपुर-नरेश सवाई जयसिंह प्रातःकालीन सूर्यकी आभा देखनेके लिए अपने महलकी छतपर चढ़े तो इस प्रकार हतप्रभ हो गये, मानो काले साँपपर पैर पड़ गया हो। तुरन्त उलटे पाँव और कानोंको हाथ लगाते हुए छतसे उतर आये और राज्य-पण्डितको बुलाकर दरियाफ़्त किया,

"यदि कोई पिता अपनी युवती पुत्रीको अकस्मात् नग्न देख ले तो, उसके प्रायश्चित्तके लिए धर्मशास्त्रोंमें क्या विधान है?"

"महाराज, इस तरहका विधान तो मेरी दृष्टिसे नहीं गुज़रा है। मेरी तुच्छ सम्मतिमें उसे धन-धान्यादि देकर सन्तुष्ट करना चाहिए।"

राज्य-पण्डितकी सम्मति पाकर महाराजने अपने निजी कोशसे पाँच हज़ार रुपये निकालकर मन्त्रीको देते हुए फ़र्माया,

"हमारे महलकी अमुक ओर जो अमुक मकान है, उसमें रहनेवाली महिलाको यह निधि देते हुए कहना—महाराजाने अपने महलकी छतपर चढ़ते हुए अनजानेसे तुम्हें निर्वस्त्र देख लिया है। इस असावधानीके कारण उन्हें बहुत आत्मग्लानि हो रही है। प्रायश्चित्तस्वरूप तुम्हें पाँच हज़ार रुपये भेजे हैं और कहते हैं कि हमारी इस पुत्रीको विश्वास रहे कि भविष्यमें बिना पूर्व सूचनाके हम छतपर कभी नहीं जायेंगे।"

मन्त्री कुछ कहना ही चाहता था कि महाराजने यह कहते हुए उसे निरुत्तर कर दिया,

"मन्त्रिवर, प्रजा हमारी सन्तान है, यदि हम ही अपने ऊँचे-ऊँचे महलोंपर चढ़कर बहू-बेटियोंको देखेंगे तो वे न्याय कहाँ पायेंगी, और लुच्चे-लफंगोंको हम किस मुँहसे दण्ड दे सकेंगे ?"[1]

१४ मार्च १९५५ ई०

१. मुंन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ़-द्वारा संकलित 'इन्साफ़-संग्रह'के आधारपर।

जान बेची है, ईमान नहीं बेचा है

जहाँगीरके शासन-कालमें उसकी चहेती बेगम नूरजहांका भाई लाहोर-का सूबेदार (राज्यपाल) था। उस सूबेदारका एक मुँह-लगा नोकर एक खत्री युवतीको कुदृष्टिसे देखता था। अनेक डोरे डालने और तरह-तरहके हथकण्डोंके बावजूद भी युवती उसके झाँसोंमें नहीं आयी तो, चिढ़कर उसको तरह-तरहसे बदनाम करने लगा। ताकि बदनामीके भयसे वह वशी-भूत हो सके।

सूबेदारसे न्यायकी आशा रखना बालूके रेतसे तेल निकालने-जैसा था। आखिर तंग आकर युवतीके अभिभावकोंने जहाँगीरके हुज़ूरमें फ़रियाद की।

जहांगीरने नौकरसे वास्तविक स्थिति जाननी चाही तो वह कामान्ध निर्लज्जतापूर्वक बोला,

"ख़ुदाबन्दा, यह खत्री लड़की मुझसे कई बार मिल चुकी है। और मुझसे निकाह करनेको रज़ामन्द थी। सुबूतके तोरपर इसकी जाए-शर्मके पोशीदा निशान बता सकता हूँ। क़िबल-ओ-काबा इसके काफ़िर घरवालोंने इसे बहका दिया है।"

नौकरका गुस्ताखाना कलाम सुना तो जहांगीर चिराग़-पा हो गया। फिर भी उसने शान्त स्वरमें पूछा,

"क्या तुम अपनी बीवीके भी कुछ पोशीदा निशानात जानते हो?"

"नहीं जहाँपनाह।"

"सिर्फ़ दो-चार बार मिलनेपर जब खत्री लड़कीके बारेमें इतना जानते हो, तब बरसोंसे दिन-रात साथ रहनेवाली औरतके बारेमें क्यों नहीं जानते?"

"..................."

"हमें सब हक़ीक़त मालूम है, तुमने इसकी नाइनको फ़ुसलाकर पोशीदा राज़ मालूम कर लिया है, और जब यह नेक लड़की तुम्हारे हथकण्डोंपर नहीं चढ़ी तो तुमने इसे बदनाम करना शुरू कर दिया। ताकि बदनामी सुनकर इसके बिरादरीवाले उसे घरसे निकालनेको मजबूर कर दें। तुमने एक बा-इस्मत, बेदाग़ अछूती लड़कीको फ़ुसलानेके लिए जो कमीना-ओ-ज़लील हरक़तें की हैं, उनको देखते हुए तुम्हें मौतकी सज़ा भी काफ़ी नहीं है।"

नौकरको प्राणदण्ड देनेके अतिरिक्त लाहौरके सूबेदारको और कुटनी नाइनको भी उचित सज़ा दी गयी।

नूरजहाँ नहीं चाहती थी कि उसके भाई सूबेदारको और उसके मुलाज़िमको सज़ा दी जाये। मुक़दमा पेश होनेवाली रातको नूरजहाँने पहले तो जहाँगीरको ख़ूब शराब पिलायी, ताकि बेखुदीके आलममें माफ़ीनामेपर मुहर लग जाये। फिर उसके तरकशमें जितने कामबाण थे, वे सभी छोड़े गये। तब भी सफलता प्राप्त नहीं हुई तो नूरजहाँ आँखोंमें आँसू भरकर मुहब्बतका वास्ता देते हुए बोली, "कहाँ तो आप फ़र्माया करते हैं कि 'नूर'के ज़रा-से इशारेपर जान क़ुर्बान कर सकता हूँ और कहाँ मेरे इतने इसरारपर भी इस अदना-से बेहक़ीक़त मुक़दमेका फ़ैसला मेरी ख़्वाहिशके मुताबिक़ नहीं हो सकता।"

"मलिका, हमने तुम्हारे हाथ जान बेची है, ईमान नहीं बेचा है।" चीं-ब-जबीं होकर जहाँगीरने जवाब दिया और उठकर दूसरे महलमें चला गया।[१]

१५ मार्च १९५५ ई०

१· मुन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ़-द्वारा संकलित 'इन्साफ़-संग्रह'के आधारपर।

विश्वासकी विजय

जनवरी १८०५ ई० में जब अँगरेज़ोंकी तरफ़से जनरल लेकने भरतपुरको घेर लिया, तब भरतपुर-नरेश रणजीतसिंह दोहर ओढ़े हाथमें लट्ठ लिये दुर्गकी प्राचीरपर गोलन्दाज़ों और बन्दूक़चियोंका निरीक्षण करते हुए उन्हें प्रोत्साहन एवं बढ़ावा देते हुए घूम रहे थे कि सैनिकोंने आग्रह किया,

"अन्नदाता, आप यहाँ न रहें, शत्रुओंकी तोपें ओलोंकी तरह गोले बरसा रही हैं।"

महाराजने मुस्कराते हुए अपनी वृजभाषामें जवाब दिया, "भैया, जाके नामकी चिठ्ठी भगवान्के घरतें वामें बँधी आवे है, वाईके गोला लगे है।"

और सचमुच महाराजकी बात सच निकली। वे निर्भय-निशंक प्राचीरपर घूम-घूमकर युद्ध-संचालन करते रहे। उनकी आँखोंके सामने पक्ष-विपक्षके सैनिक धराशायी होते रहे। उनके चारों तरफ़ गोले आग उग़लते रहे, परन्तु उनका बाल भी बांका नहीं हुआ।

९ दिसम्बर १९४६ ई०

ये शिक्षक और विद्यार्थी

"क्यों मास्टर साहब, ख़ैर तो है ? बहुत ही चिन्तित और खोये-खोये-से नज़र आ रहे हैं ।"

"हाँ भई, ख़ैर ही है; जो दम गुज़र जाये ग़नीमत है ।"

"हुज़ूरके दुश्मनोंको आखिर हुआ क्या है; ज़रा मैं भी तो सुनूँ !"

"अरे साहब, आप क्या करेंगे सुनकर। ईमानकी बात यह है कि अब ज़िन्दगीका लुत्फ़ नहीं। इस बेहया ज़िन्दगीसे तो मरना हज़ार दर्जे बेहतर, मगर,

मुझे क्या बुरा था मरना गर एक बार होता

अच्छा साहब, आप दास्ताने-ग़म सुनना ही चाहते हैं, तो पहले एक लतीफ़ा सुनिए ।"

"इर्शाद ।"

"एक बार अकबर बादशाहसे वीरवरकी किसी बातपर खटक गयी तो उसने दरबारमें जाना छोड़ दिया, और—'कुछ-न-कुछ किया कर, बेकार रहनेकी बजाय सुथने फाड़ सिया कर'—कहावतके अनुसार उसने भी एक सेठके यहाँ नौकरी कर ली। बारह रुपये मासिकमें दो बच्चोंको पढ़ानेके अलावा, उनकी देख-भाल और शामको सैरमें साथ रहना भी शामिल था। वीरवरने यह सब बग़ैर किसी चूँ-चराके मंजूर कर लिया। ताकि बादशाह यह उलाहना न दे सके कि हमारे अलावा कोई कौड़ीके भावमें भी नहीं पूछता।

एक रोज़ सेठजी भी सैरमें साथ थे। लैण्डोमें मुश्की घोड़े जुते हुए

दुलकी चल रहे थे। कोचवान वर्दीमें ज़र्क़-बर्क़ मालूम होता था। गाड़ीके पीछे खड़ा हुआ साईस भी ऐन-फ़ैन था। वीरवर अपने गरेबानमें मुँह लटकाये बैठा था कि एकाएक उसे न जाने क्या सूझा, कोचवानसे पूछ बैठा,

"क्यों भई कोचवान, सेठजी तुम्हें क्या तनख्वाह देते हैं ?"

"हुज़ूर, यह भी कोई छिपी हुई बात है। पचीस रुपये तनख्वाहके अलावा कपड़ा-मकान, इनाम-इकराम···· ।"

कोचवानकी बात पूरी भी न हो पायी थी कि वीरवर सेठसे यह कहते हुए, "आप अपने बच्चोंको पढ़वानेके बजाय कोचवानी सिखाइए। कमसे-कम आपके बाद इस हुनरसे ये लोग पेट तो भर लेंगे। जब मुझे ही बारह रुपये मिलता है, इन्हें तो कोई कौड़ीके तीन-तीन भी नहीं पूछेगा"—गाड़ीसे कूद पड़े।

"मास्टरजी, आपने लतीफ़ा क्या सुनाया, हम लोगोंके मुँहपर जूता मार दिया है।" शिक्षकोंसे कुली-कबाड़ी, धुने-जुलाहे, तेली-तम्बोली आज लाख दर्जे बेहतर हैं। अध्यापकोंकी दयनीय स्थितिका यह सजीव चित्रण है।"

आर्थिक स्थिति ही दयनीय रहती तो भी ग़नीमत थी। वह अपनी मान-प्रतिष्ठाके अहंकारको लिये जैसे-तैसे जिये जाता है, परन्तु अब तो इज़्ज़त-आबरू सभी ख़तरेमें है।"

"बेशक, आप दुरुस्त फ़र्मा रहे हैं। पहले विद्यार्थी अध्यापकोंसे थर-थर काँपते थे और उनके हर आदेशका पालन करना अपना अहोभाग्य समझते थे, और अब शिक्षकवर्ग अपने शिष्योंसे उसी तरह भयभीत हैं, जैसे भेड़िये और लकड़बग्घोंसे लखनवी !"

"सुना नहीं आपने ? अलीगढ़में इन लड़कोंने अपने प्रिन्सिपलको मार डाला। अन्य मार-पीटके क़िस्से तो मामूली बात है ! ट्रेनमें मार-पीट करते हैं, सड़कोंपर उत्पात मचाते हैं, चलती लड़कियोंको छेड़ते हैं, भले

आदमियोंपर फ़ब्तियाँ कसते हैं। अध्यापक सब कुछ देखते हैं, और हाथ मलकर रह जाते हैं।"

"करें भी क्या? उन्हें अपनी पगड़ी सँभालनी दुश्वार हो रही है। पहले विद्यार्थी सज़ाके खौफ़से काँपते रहते थे। और जबसे ताड़नकी प्रथा बन्द हुई है, शिक्षकोंको हर वक़्त पिटनेका भय बना रहता है!"

"आपने नौशेरवाँ बादशाहका क़िस्सा तो सुना होगा!"

"वह कौन-सा?"

"यही कि जब नौशेरवाँ युवराज था और बादशाहोचित शिक्षा-दीक्षा प्राप्त कर चुका तो बादशाहने इनाम-इकराम देनेके लिए प्रधान शिक्षकको बुलाया और फ़र्माया,

"वलीअहदको जिन-जिन उस्तादोंने जो-जो हुनर सिखलाया है, उन सबकी फ़िहरिस्त पेश की जाये, ताकि मा-बदौलत उनको इनाम-इकराम देकर अपनी दरियादिलीका इज़हार कर सकें!"

"हुज़ूरकी दरियादिलीको कौन नहीं जानता, सूरज और चाँद अपनी आँखोंसे रोज़ाना इस फ़ैजेआमको देखते हैं। जहाँपनाह, सिर्फ़ आज-भरकी तालीम बाक़ी रह गयी है, वह भी दे दी जाये तो....!"

"बहुत मुनासिब, हम बहुत बेसब्रीके साथ तुम्हारी फ़िहरिस्तका इन्तज़ार शाम तक करेंगे।"

प्रधान शिक्षक, नौशेरवाँको लेकर अस्तबल गया। वहाँसे एक घोड़ा लिया, उसपर स्वयं बैठा और लगाम पकड़कर चलते रहनेके लिए नौशेरवाँको हुक्म दिया। नौशेरवाँ ब-सरो-चश्म लगाम पकड़कर घोड़ेके साथ दौड़ने लगा। घोड़ेकी रफ़्तार बढ़ती ही गयी और नौशेरवाँ दौड़ते-दौड़ते बेहोश होकर गिर गया। घोड़ेपर लादकर शिक्षक उसे महलोंमें लाया तो कोहराम मच गया। बादशाहके क्रोधका पारावार नहीं रहा। फिर भी उसने ज़ब्तसे काम लिया। शिक्षकको बुलाकर फ़र्माया,

"काम तो तुमने आज वह किया है कि जो भी सज़ा दी जाये कम है, मगर वलीअहदके उस्ताद होनेकी वजहसे तुम्हें माफ़ फ़र्माया जाता है।"

"जहाँपनाह, बेशक मैंने बहुत बड़ी ग़लती की है, और मैं हर सज़ाका मुस्तहक़ हूँ! फिर भी आपने मुझे माफ़ फ़र्माया, इस दरियादिलीका किस मुँहसे शुक्रिया अदा करूँ। मेरी इस हरकतको वलीअहद तो शायद ता-ज़िन्दगी न भूलेंगे, इजाज़त दीजिए कि मैं अपना यह स्याह मुँह किसी और मुल्कमें ले जाऊँ!"

शिक्षकके चले जानेपर नौशेरवाँको होश आया तो उसने सबसे पहले अपने उस्तादके कुशल-क्षेम पूछे और जब वास्तविक स्थिति बतायी गयी तो उसे बहुत सद्मा पहुँचा, उसने बादशाहसे अर्ज़ किया,

"वे सज़ाके नहीं, इनामके मुस्तहक़ हैं। उन्होंने आज जो सबक़ सिखाया है, वह ता-ज़िन्दगी मेरे काम आयेगा। मैं उनके इस एहसानका बदला क़यामत तक नहीं चुका सकूँगा।"

बादशाहने हैरतसे पूछा तो कहा, "उस्तादने मुझको आज यह सबक़ दिया कि कभी किसीको तकलीफ़ न देना। तकलीफ़ देनेसे पहले सोच लेना कि अगर मैं इसकी जगह होता तो क्या होता! हर इन्सानमें तुम्हारे-जैसी ही जान है, और हर इन्सान उसी तरहसे दुःख-सुख महसूस करता है जैसा कि तुम।"

और सचमुच नौशेरवाँने ता-ज़िन्दगी न अपने घोड़ेके साथ साईसको चलने दिया न किसी निरपराधीको सज़ा दी!"

"मास्टरजी, शिष्योंकी गुरुभक्तिके तो अनेक उदाहरण पुराणों एवं इतिहासोंमें भरे पड़े हैं। प्रश्न तो यह है कि आज विद्यार्थीवर्ग इतना उद्दण्ड और अनुशासन-हीन क्यों हो गया है?"

"भाई जान, बात यह है कि पहले शिक्षक ज्ञानका दान करते थे, अब उसे बेचते हैं। अतः चालाक दूकानदार और सयाने ग्राहकमें जो तू-तू

मैं-मैं चलती है वही शिक्षकों और विद्यार्थियोंमें होती रहती है,

जैसी गन्दी देवी वैसे ऊत पुजारी

जो आज विद्यार्थी हैं, वही कल शिक्षक बनेंगे। यदि ये अपने जीवन-में शोहदे और उद्दण्ड रहेंगे तो इनके विद्यार्थी धर्मराज युधिष्ठिर और नौशेरवाँ कैसे बनेंगे?"

विद्वान्‌का सम्मान

दिल्ली-दरबारकी घटना है। शम्स-उल-उलमा मौलाना अब्दुलहक़ ख़ैराबादी एक रोज़ महाराजा कश्मीरके यहाँ तशरीफ़ ले गये। ख़ेमेमें बिछी हुई मसनदपर महाराजाने आपको आदरपूर्वक बिठाया और कुशल-क्षेम पूछनेके बाद युवराजके उस्तादको भी बुलवाकर आपके समीप बिठाते हुए फ़र्माया,

'चिरकालसे अभिलाषा थी कि किसी उपयुक्त विषयपर दो आलिमोंका शास्त्रार्थ सुनूँ। आज वह अवसर अनायास प्राप्त हुआ है। हाँ साहब, तो फिर दोनों ....।"

शम्स-उल-उलमाको बरदाश्त कहाँ? चिराग़-पा हो गये। ख़ेमेसे बाहर निकलते-निकलते बोले,

"महाराजा साहब, आप आलिमोंको लड़ानेके बजाय, बेहतर होगा कि मुर्ग़ों और बटेरोंको लड़ाया करें। यह आलिमोंकी शान नहीं, कि वह किसीकी तफ़रीहके लिए बेवजह चाहे जिस मौज़ूँपर बहस करने लगें।"

शम्स-उल-उलमाको इस तरह जाते हुए देखा तो महाराजाको पसीना आ गया। उन्होंने पास खड़े हुए अफ़सरको तत्काल आपके पीछे-पीछे भेजा कि वह किसी तरह आपको मनाकर वापस ले आये, परन्तु आप नहीं रुके और गाड़ीमें सवार होकर चले गये।

दूसरे रोज़ महाराजाने अपने उच्च अधिकारीको ग्यारह पारचेका ख़िलअ़त और दो हज़ार रुपये नक़्द देकर आपके पास भेजा, तो आपने नम्रतापूर्वक अस्वीकार करते हुए फ़र्माया,

"आप मेरी तरफ़से महाराजासे मआज़रत (क्षमा-याचना) और इज़्हारे-अफ़सोस इस वक़्ती इत्तफ़ाक़ (आकस्मिक घटना) पर कीजिएगा। महाराजाने बराये क़द्रदानी खिलअत-ओ-नक़्दसे मेरी इज़्ज़त अफ़ज़ाई की, मगर मुझे अफ़सोस है कि मैं उसे क़ुबूल करनेमें माज़ूर हूँ। क्योंकि मैं नवाब रामपुरका मुलाज़िम हूँ। इसके लिए रईसकी इजाज़त-ओ-मंज़ूरीकी ज़रूरत है।

लाचार खिलअत और नक़्द लेकर उच्च अधिकारीको वापस आना पड़ा। नवाब रामपुर रुग्ण होनेके कारण दिल्ली नहीं आ सके थे और दिल्ली दरबारमें शिरकत फ़र्मानेके लिए वलीअहदको भेज दिया था। अतः इस घटनाकी खबर जब वली-अहदको लगी तो उन्होंने इस घटनाकी सूचना तार-द्वारा नवाबको रामपुर दी। तारका जवाब तारसे मिला,

"हमारी तरफ़से ग्यारह पारचेका खिलअत और दो हज़ार नक़्द शम्स-उल-उलमाको दिये जायें।"

शम्स-उल-उलमा किसी कारणसे अब रामपुर रहना नहीं चाहते थे, परन्तु नवाबकी इस सहृदयता और आदरकी भावनासे आप इतने कृतज्ञ और प्रभावित हुए कि जीवन पर्यन्त रामपुर ही रहे।[1]

१४ जुलाई १९५४ ई०

१. मै-खान-ए-रियाज़ पृ० ११६–२१।

ये ईद

मिर्ज़ा रुसवा उर्दूके पहले उपन्यास-लेखक हुए हैं। आपसे पूर्व उर्दूमें भूतों, जिनों, परियों आदिकी कहानियोंका चलन था। पं० रतननाथ दर 'सरशार'का 'फ़सानए-आज़ाद' छप चुका था। मगर वह क्रमबद्ध न होकर सैकड़ों घटनाओंका संकलन-सरीखा था। इसलिए आपका लिखा 'उमराव जान अदा' ही उर्दूका पहला उपन्यास समझा जाता है।

मिर्ज़ा रुसवाको मुफ़लिसीके ऐसे दिन भी देखने पड़े, जब कि आपके यहाँ कई-कई रोज़ तक घरमें चूल्हा नहीं जला और मियाँ-बीवी बग़ैर खाये हो चुपचाप सो गये। क्या मजाल कि पड़ोसियोंको भी कभी एक बार इसकी ख़बर लगी हो।

एक बार तीन रोज़के फ़ाक़के बाद कुछ पैसा हाथ आया तो आपकी बेगमने सोचा, "चलो आज मीठे चावल ही पका लें। तीन रोज़के रोज़ेको तनिक ठाठके साथ खोला जाये।" मीठे चावल पक चुके तो उन्हें खयाल आया कि मिर्ज़ा रुसवाके फ़लाँ शागिर्दको मीठे चावलोंका बहुत शौक़ है। उसे भी बुला लिया जाये।

मिर्ज़ा रुसवा भूखसे बेताब मीठे चावलोंकी खुशबूका मज़ा लूट रहे थे और भूखसे अधीर बेगमसे बार-बार पूछ रहे थे कि चावल पकनेमें कितनी देर है कि बेगम बोलीं, "देखना तुम्हारा फलाँ शागिर्द मीठे चावल बड़े शौक़से खाता है। ज़री लपककर उसे लिवा लाओ तो कैसा रहे!"

मिर्ज़ा रुसवा बेगमकी बातसे खिल उठे और रातको उसके घरसे लिवा लाये और साथ बैठकर इस तरह चावल खाये, जैसे रोज़ोंके बाद ईदपर दोस्त-अहबाबके साथ बैठकर खाये-खिलाये जाते हैं।

१८ मार्च १९५५ ई०

ये भोले जीव

ग़दरसे पहलेकी बात है, दिल्लीमें एक मिर्ज़ा करीमुद्दीन 'रसा' रहते थे। मुशाइरोंका ऐसा शौक़ था कि सबसे पहले पहुँचते और जबतक वहाँ एक भी आदमी रहता, उठनेका नाम नहीं लेते।

एक रोज़ घटाएँ घिर आयीं तो लोग धीरे-धीरे खिसक लिये, आखिर-में यही रह गये। इतनेमें इतनी मूसलाधार वर्षा हुई कि सड़क-नाले सब एक हो गये। राम-राम करके दो-तीन घण्टेमें बारिश कुछ थमी तो, साहबे-मकानने क़न्दील लेकर अपने नौकरको इनके साथ किया। ताकि अँधेरी रातमें घर तक पहुँचा आये।

मकानसे निकले तो रास्तेमें पानी-ही-पानी। पानीमें पाँव रखें तो उनकी हलकी-फुलकी सलेमशाही जूतियाँ बरबाद हो जातीं। लाचार नौकर-से उसका लद्दर जूता माँगकर पहना। घर पहुँचनेपर नौकरको नया जूता निकालकर दिया और फ़र्माया, "मियाँ, तुम्हारा एहसान हम ता-उम्र न भूलेंगे। तुम अगर अपना जूता न देते तो हम नंगे पाँव कैसे आते? कभी किसी चीज़की ज़रूरत हो तो ले जाना।"

नौकर चलता-पुरज़ा था। अव्वल तो उसने यह घटना खूब बढ़ा-चढ़ा-कर लोगोंसे बयान की। बातको पोशीदा न रहने दिया। दोयम हर तीसरे-चौथे उनसे एकाध रुपया ऐंठ लाता। मगर उन्होंने कभी ना नहीं की।[1]

२० मार्च १९५५ ई०

---

१. दिल्लीकी आख़िरी 'शमअ़'के आधारपर।

सहृदयता

सन् १८५७ से पहलेकी बात है, नवाब आरिफ़ दिल्लीके प्रतिष्ठित व्यक्तियोंमें-से थे। रईस होनेके साथ-साथ उर्दू-साहित्य-प्रेमी थे। शाइरीका भी शौक़ रखते थे। बेचारे अर्सेसे बीमार चले आ रहे थे। जीवनकी कोई आशा नहीं रही थी। दिन-दिन घुलते जा रहे थे। मृत्युसे पूर्व एक बृहत् मुशाअ़रा करानेकी उनकी इच्छा बलवती हो उठी।

लेकिन उन दिनों मुशाअ़रेका आयोजन करना ओखलीमें सिर देनेसे भी दुष्कर था। रुपया और श्रम पानीकी तरह बहानेपर भी परेशानी और ज़िल्लत ही पल्ले पड़ती थी। उस्तादोंकी अखाड़ेबाज़ी शाइरोंकी आपसी चश्मक, एक-दूसरेपर हाशिया-आराई इस क़दर बढ़ गयी थी कि भले आदमी मुशाअ़रोंके नामसे कान पकड़ते थे। ख्यातिप्राप्त शाइरोंने मुशाअ़रोंमें जानेकी क़सम खा ली थी। फिर भी आपने एक अभूतपूर्व मुशाअ़रेकी योजना बना ही ली।

नवाब साहब अपनी रुग्णताके कारण कहीं आने-जाने योग्य नहीं थे। जहाँ जिसकी पहुँच हो सकती थी, अपने ऐसे सहयोगियोंको भेजकर प्रायः सभी प्रतिष्ठित शाइरोंसे सम्मिलित होनेकी स्वीकृति ले ली।

बादशाह ज़फ़रने ग़ज़ल भेजनेका वायदा किया। ग़ालिब, ज़ौक़, मोमिन, शैफ़्ता, आज़ुर्दा-जैसे उस्तादोंने भी ब-शौक़ शिरकत फ़र्मानेकी मंज़ूरी दे दी। नवाब आरिफ़के पास पहुँचकर अपनी सफलताका वर्णन करते हुए एक सहयोगी बोले, "नवाबसाहब, आप हकीम 'मोमिन' का नाम भूल ही गये थे। मगर मैं कब चूकनेवाला था। उस्ताद 'ज़ौक़'की

रज़ामन्दी लेकर मैं सीधे वहाँ पहुँचा। मुशाअ़रेका नाम सुनते ही चींव-जबीं होकर फ़र्माया, "माफ़ कीजिए साहब, मैं तो मुशाअ़रोंमें जाना तर्क कर चुका हूँ।"

मैं भी यूँ पीछा कब छोड़नेवाला था, मैंने भी कारी तीर फेंका,

"हुज़ूर, नवाब आरिफ़ ज़िन्दगी-मौतके झूलेमें झूल रहे हैं। उनकी ख्वाहिश है कि चलते-चलाते अपनी आँखोंसे एक मुशाअ़रा और देख लें।"

जैसी कि उम्मीद थी मेरा तीर निशानेपर लगा। सुनते ही तड़प उठे। फ़र्माया, "कैसा खुशरू जवान था। बीमारीने निचोड़कर रख दिया। खुदा उनको शिफ़ा दे। फिर मेरी पीठपर हाथ रखकर बोले, "भई, कोई और आये या न आये, मैं ज़रूर आऊँगा।"

सुनकर नवाब साहबकी आँखें डबडबा आयीं। सहयोगी घबराया कि शायद कोई ग़लती हो गयी। सबब पूछा तो नवाब साहब बोले,

"आपको मालूम नहीं, अर्सेसे मेरे उनके दरमियान अनबन चली आती थी। मेरी ख़ातिर वे भी आनेके लिए राज़ी हो गये।"

"नवाब साहब, यह आप क्या फ़र्मा रहे हैं? वे तो आपका हाल सुनकर इस तरह तड़प उठे जैसे कोई अपने भाईकी ख़बरपर तड़पता है।"

"भाई, यही तो इन शरीफ़ोंकी ख़ूबी है। यह लोग इतने नेक और रहमदिल हैं कि दुश्मनका भी भला चाहते हैं[1]।"

२० मार्च १९५५ ई०

१. दिल्लीकी आखिरी 'शमअ़'के आधारपर।

सभ्यताकी कसौटी

दिल्लीके प्रसिद्ध उर्दू-हितैषी डॉक्टर सर रासमसऊदका एक जर्मन-साहित्यिक मित्र भारत-भ्रमणको आया तो दिल्लीमें उनका मेहमान हुआ। साहित्यिक प्रसंग छिड़नेपर उसने पूछा,

"आपकी ज़बानका सबसे बड़ा शाइर कौन है ?"

"ग़ालिब"

"मैं उसका दीवान ख़रीदना चाहता हूँ।"

उसकी अभिलाषानुसार तत्कालीन मुद्रित दीवानोंमें-से एक अच्छा-सा दीवान चुनकर खरीद दिया गया। जिसका मूल्य साधारण था।

भारतसे जर्मन-प्रस्थान करते समय सर रासमसऊदने पूछा, "हिन्दुस्तानियोंकी तहज़ीबो-तमद्दुन (सभ्यता एवं संस्कृति) के बारेमें आपकी राय क्या है ?"

जर्मन विद्वान्ने तुरन्त उत्तर दिया,

"मेरे नज़दीक हिन्दुस्तानियोंकी ज़िन्दगी जानवरोंकी ज़िन्दगीसे कुछ ही बेहतर हो तो हों।" कारण पूछने पर बोला,

"किसी देशकी सभ्यताका अनुमान वहाँकी साहित्यिक रुचि देखकर लगाया जाता है। क्या यह खेद और आश्चर्यकी बात नहीं है कि आपकी भाषाका सर्वश्रेष्ठ शाइर ऐसी दयनीय स्थितिमें हो कि उसका दीवान इतने घटिया काग़ज़पर इस भद्दे ढंगसे छपा हुआ, इतने सस्ते मूल्यपर बेचा जाये।"

जर्मन-साहित्यिकके उक्त वाक्य कुछ उर्दू-हितैषियोंको ऐसे चुभे कि उन्होंने उर्दू-मुद्रणका कायाकल्प कर दिया। ग़ालिबके एक-एक शेरपर

कलापूर्ण तिरंगे चित्र बनाये गये। दीवाने-ग़ालिबका इतनो सुरुचिपूर्ण ढंगसे मुद्रण हुआ कि वह सौ-सौ रुपयोंमें हाथों-हाथ बिक गया। इसके अतिरिक्त उर्दू-प्रकाशन-संस्थाओंने इतनी उन्नति की कि लीथोकी छपाई और हाथकी लिखाईकी कठिनाइयोंके बावजूद भी रंगीन मुद्रण, स्वच्छ अक्षर, कलापूर्ण गेटप आदिमें एक होड़-सी लगी हुई है[1]।

१६ मार्च १९५५ ई०

शाइरीकी उपेक्षा

एक रोज़ नवाब साहबके आदेशपर 'मीर' साहब उनके यहाँ पहुँचे तो देखा कि नवाब हौज़के किनारे खड़े हैं। हाथमें छड़ी है। पानीमें लाल-हरो छड़ियोंके तैरनेका तमाशा देख रहे हैं। इनको देखकर बहुत खुश हुए और कोई ग़ज़ल सुनानेकी फ़र्माइश की।

'मीर' साहबने ग़ज़ल सुनाना शुरू किया। नवाब साहब छड़ीसे मछलियोंके साथ खेलनेमें ही लीन थे और पढ़नेकी फ़र्माइश भी करते जाते थे। आख़िर चार शेर पढ़कर 'मीर' साहब ठहर गये और बोले, "सुनाऊँ क्या खाक? आप तो मछलियोंसे खेल रहे हैं, इधर तवज्जह फ़र्मायें तो सुनाऊँ?"

नवाबने कहा, "जो अच्छा शेर होगा, खुद ही ध्यान खींचेगा।"

'मीर' साहबको नवाबका यह रवैय्या पसन्द न आया और ग़ज़लको जेबमें रखकर घर चले आये और फिर कभी नवाब आसफ़ुद्दौलाके जीते-जी उनके यहाँ नहीं गये।

१. 'दीवाने-मोमिन'के आधारपर।

आँखोंका लिहाज

महमूद ग़ज़नवी बादशाहका भानजा एक ग़रीब आदमीकी स्त्रीसे बलात् मिलता था। विरोध करनेपर पति-पत्नीको पीटता और सताता था, तंग आकर ग़रीबने महमूदको अपनी दास्ताने-ग़म सुनायी। महमूदने दुःख-गाथा धैर्यपूर्वक सुननेके बाद ग़रीबको सान्त्वना देते हुए कहा, "तू घबरा नहीं, मैं उस ज़ालिमको खुद अपने हाथसे सजा दूँगा। मगर मैं चाहता हूँ कि तू उसे रँगे हाथ मुझे दिखा दे।"

ग़रीब आश्वस्त होकर चला गया और तीसरे रोज़ रातको आकर प्रत्यक्ष देख लेनेके लिए निवेदन किया। बादशाहने मौक़ेपर जाकर चश्मदीद हरकत देखी तो तत्काल चिराग़ बुझा दिया और बलात्कारीको ललकारा।

ललकार सुनते ही वह चारपाईसे कूदकर बादशाहसे अँधेरेमें गुथ गया। आख़िर थोड़ी गुत्थम-गुत्थाके बाद बादशाहने उसे दे मारा और गला घोटकर उसे मार डाला।

अत्याचारीका वध करनेके बाद बादशाहने पीनेका पानी तलब किया। पानी पिलानेके बाद ग़रीबने दस्तबस्ता अर्ज़ की,

"जहांपनाह, मुजरिमको क़त्ल करनेसे पेश्तर चिराग़ बुझाना और बादमें पानी पीना, किस मस्लहतसे हुए, ख़ाकसारकी समझसे बाहर है।"

महमूदने बताया, "भानजेको देखकर आँखोंका लिहाज इन्साफ़के आड़े न आ जाये, इस ख़यालसे चिराग़ गुल किया और तुम्हारी फ़रियाद सुनकर मैंने ख़ुदाके हुज़ूरमें वादा किया था कि जालिमको सज़ा देनेके बाद ही

खाना खाऊँगा। तुम तीन रोज़के बाद आये। लड़नेसे थोड़ी थकावट महसूस हुई, इसलिए पानी पिया। खुदाका शुक्र है कि मेरी आँखोंकी मुरव्वत इन्साफ़में हाइल न हो सकी[1]।"

-१५ मार्च १९५५ ई०

१. मुन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ़-द्वारा संगृहीत 'इन्साफ़-संग्रह'के आधारपर।

विलासिताका परिणाम

मुहम्मदशाह रँगीलेका शासनकाल था। दिल्ली विलासिताके रंगमें सराबोर थी। हुस्नो-इश्क़की शाइरीका बाज़ार गरम था। दिनको बटेरों-मुर्ग़ोंकी पालियाँ बदी जाती थीं; पतंगके मेंच होते थे तो रातको शराबके दौर और छम-छमाछमकी स्वर लहरियाँ गूँजती थीं। बादशाहको जनताके दुःख-सुखसे कोई सरोकार नहीं रह गया था। वह हर वक़्त रंग-रलियोंमें मस्त रहता था। शूर-वीरों एवं विद्वानोंके बजाय उसके दरबारमें भाँड़ों और मिरासियोंका बोलबाला था।

उचित अवसर देखकर नादिरशाहने भारतपर आक्रमण किया तो लाहौरके सूबेदारने दिल्ली सूचना भेजी।

जब यह सूचना दिल्ली दरबारमें पहुँची, तब वहाँ शराबका दौर चल रहा था। शराब पीकर हर-एक बदमस्त था। सन्देश सुनकर एक दरबारी-ने कहा, "ऐ हुज़ूर, अस्ल बात तो यह है कि लाहौरवालोंके मकान इतने ऊँचे हैं कि उन्हें बहुत दूर तक दिखायी देता है। न कोई नादिरशाह है न उसकी इतनी हिम्मत ही है कि वह हुज़ूर-जैसे शाहका सामना कर सके।"

दूसरा बोला, "अमाँ, आता है तो आने दो, हम तो ज़नानेमें हो लेंगे।"

तीसरा बोला, "हम भी तो देखें नादिरशाह कैसे लड़ता है, वह बहरे तवील गाऊँ कि वज्दमें न आ जाये (बेहोश न हो जाये) तो मेरा ज़िम्मा।"

इसी तरह सबने हो-ही, हू-हू, करते हुए आक्रमणकी बातोंको टाल

दिया और लाहौरके शासकका सन्देश-पत्र शराबमें घोलकर पी लिया गया।

आख़िर मुम्मदशाहको अपनी अकर्मण्यताके कारण नादिरशाहके हाथ बन्दी होना पड़ा। लाल क़िलेपर अधिकार करके नादिरशाहने हुक्म दिया, "मुग़लिया ख़ान्दानकी तमाम बेगमात मेरे आगे आकर नाचें।" यह नादिरशाही हुक्म सुनते ही बेगमातके होशो-हवास काफ़ूर हो गये। भला जिन बेगमातके मखमली गद्दोंपर चलनेसे पाँवमें छाले पड़ जायें, बग़ैर छिला अंगूर खानेसे क़ब्ज़ हो जाये, जो फूलोंके हार पहननेपर तीन-तीन बल खायें, आँखोंमें काजलका भार जिनसे बरदाश्त न हो, चाँदनी रातमें निकलें तो बदन काला पड़ जाये। ऐसी नाज़ुक-मिज़ाज बेगमात ग़ैर मर्दके सामने क्योंकर नाच सकती थीं ? मगर हील-हुज्जत बेकार थी। नादिरशाहका हुक्म मामूली हुक्म नहीं था। लाचार उन्हें नादिरशाहके सामने जाना पड़ा। नादिरशाह दीवाने-आममें 'मयूर-सिंहासन' पर लेटा हुआ था, उसकी आँखें मिची हुई थीं। सिरहाने ख़ंजर रखा हुआ था। बेगमात डर रही थीं कि नींद खुलते ही नाचना होगा। नादिरशाहकी आँख खुली। तेवर बदलकर बोला, "चली जाओ मेरे सामनेसे, तुम्हारा नापाक साया पड़नेसे कहीं मैं भी बुज़दिल न बन जाऊँ। तुम लोग ऐशो-आराममें पड़नेसे इतनी बुज़दिल हो गयी हो कि तुम्हें अपनी इस्मतका भी खयाल नहीं। जो बेगमात ग़ैर मर्दके सामने खौफ़से नाचनेको तैयार हो सकती हैं, उनकी औलाद क्या खाक सल्तनत करेगी ? मैं यहाँ औरतोंके नाच देखने नहीं आया हूँ। तुममें-से एक भी खुद्दार (स्वाभिमानी) और बा-हिम्मत न निकली जो मेरे सिरहाने रखा हुआ ख़ंजर मेरे सीनेमें भोंकनेका हौसला करती[1]।"

जनवरी १९२७ ई०

---

१. घटना प्रामाणिक है, परन्तु इतिहास-ग्रन्थ स्मरण नहीं रहा।

मैनोश तो है, मगर बेख़ुद नहीं

जहाँगीर बादशाहकी मैनोशीकी शुहरत देशको लाँघकर विदेशोंमें भी पहुँच गयी। ईरानके बादशाहने ठीक परिस्थितिका अध्ययन करनेके लिए अपने एक विश्वस्त दक्ष गुप्तचरको भारत भेजा, ताकि राजकीय ग़फ़लतकी अफ़वाह सत्य हो तो भारतपर आक्रमण कर दिया जाये।

गुप्तचर एक बड़े जौहरीके वेशमें भारत आया। आगरेमें शाही मेहमान हुआ। जहाँगीरसे भेंट करनेका सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। जहाँगीर और छद्मवेशी जौहरी एकान्तमें बैठे हुए वार्तालाप कर रहे थे। शराबका दौर चल रहा था और जवाहरात भी देखे जा रहे थे। तभी बादशाहके दो पालतू शेर उधर आ निकले। बादशाहने उनको प्यारसे थपथपाया और एक हिरन उनके खानेके लिए मँगवाकर आधा-आधा दोनोंके सामने डाल दिया। एक शेर अपना हिस्सा छोड़कर दूसरेके हिस्सेपर झपटा तो जहाँगीर-ने उस शेरका एक ही तलवारमें काम तमाम कर दिया। जौहरीने हाथ बाँधकर अर्ज़ किया, "जहाँपनाह, शेरको मारनेकी वजह खाकसारकी समझमें न आयी।"

जहाँगीर जवाहरातको परखते-परखते ही बोला, "जो दूसरोंके हक़-पर झपटते हैं, हमारे यहाँ उनका यही अंजाम होता है।"

जौहरी सुनकर सिहर उठा। किसी प्रसंगपर ईरानके बादशाह अपनी मलकासे कह रहे थे, "जहाँगीर मैनोश तो है, मगर बेख़ुद नहीं।"[1]

१७ मार्च १९५५ ई०

---

१. यह घटना सम्भवतः १९३२ में मियाँवाली जेलमें मेरे साथी मुहम्मदशरीफ़ने सुनायी थी। किसी इतिहास-ग्रन्थमें नहीं पढ़ी।

सबला

निर्बलता अत्याचार और पापकी जननी है। जो क़ौम निर्बल है, वह अधार्मिक है। धार्मिकता उससे कोसों दूर रहती है। पापी मनुष्य ही भय-भीत और शंकित रहता है। धर्मात्माके पास भय और आशंका फटकने भी नहीं पाते। सम्यग्दृष्टिका भयरहित होना लाज़िमी है। इन्हीं विचारों-में निमग्न कुछ काग़ज़ इधर-उधर देखते हुए २८ अप्रैल १९३९ के हिन्दु-स्तान अख़बारकी एक कटिङ्पर भी नज़र पड़ी। यह देखनेको कि क्यों यह कटिङ सँभालकर रखी हुई है, अख़बार खोलकर देखा तो उसमें निम्न समाचार छपा हुआ था,

"झाँसीकी कचहरीमें उस समय सनसनी फैल गयी, जब कि एक लड़कीने पुलिस-इन्सपेक्टरको खुली अदालतमें मल्लयुद्धके लिए ललकारा। यह घटना उस समयकी है, जब इस लड़कीपर दफ़ा तीन सौ दो (क़त्ल)के मुक़दमेकी सुनवायी एस० डी० ओ० मऊ गरौठाकी अदालतमें हो रही थी। लड़कीका बयान है कि उसने ठाकुर पीतमसिंहको जब वह उसे अकेला पाकर रातको उसके घरमें घुस आया और उसके सतीत्वको नष्ट करना चाहा, ज़मीनपर पटककर क़त्ल कर दिया। पुलिस-इन्सपेक्टरने लड़कीके बयानका विरोध करते हुए कहा कि यह मुलज़िम पीतमसिंह-जैसे पुष्ट शरीरवालेको ज़मीनपर नहीं पटक सकती। इसपर लड़कीने खुली अदालत-में इन्सपेक्टर साहबको कुश्तीके लिए चैलेंज किया और कहा कि मेरी-तुम्हारी कुश्ती यहीं अदालतमें ही हो जाये तो तुम्हें पता चल जायेगा कि मैं पटक सकती थी या नहीं।

समाचार क्या था? भारतीय नारी-तेजका एक जीवित उदाहरण

था ? इसी भारतमें जहाँ गुण्डों-द्वारा त्रसित किये जानेसे नारी-जीवन दूभर हो रहा है। मार्ग चलते हुए जहाँ अपमानित होनेका भय बना हुआ है। उसी भारतमें उसी अत्याचार-पीड़ित नारी-समाजमें अब भी ऐसी वीर-कन्याएँ मौजूद हैं। इस मुक़दमेका परिणाम क्या निकला ? कौन दोषी और कौन निर्दोष ठहरा ? यह मुझे मालूम नहीं है। क़त्ल कैसे हुआ और क्यों हुआ, यह जानना मेरे लिए ज़रूरी भी नहीं है। मैं तो केवल उस कन्याके उत्साहकी बात कर रहा हूँ जो उसने अदालतमें इन्सपेक्टरसे कही।

आज भारतीय स्त्रियोंको आत्म-रक्षाके उपाय बताने ज़रूरी हो गये हैं। हमारी देवियाँ जब परदा हटाकर घरसे बाहर निकल पड़ी हैं, तब उन्हें अपनी रक्षाका उपाय सोचना ही होगा। एक बार भाई परमानन्दजी-ने कहा था कि यदि मार्गमें छेड़नेवाले शोहदोंका उत्तर देनेकी सामर्थ्य हमारी देवियोंमें नहीं है तो इससे अच्छा यही है कि वे परदेमें रहें, ताकि बदमाशोंके उत्पातोंसे उनकी रक्षा हो सके।

मैं जानता हूँ, भाई परमानन्दजी परदेके क़ायल नहीं थे, पर उन्होंने उक्त शब्द वेदनासे पीड़ित होकर ही कहे थे। मैं कहता हूँ, घरमें रहते हुए भी कितने दिन रक्षा हो सकती है ? अब तो घरोंमें घुस-घुसकर उत्पात मचाये जाने लगे हैं। कबूतर बिल्लीके भयसे बाहर न निकले तो भी उसे अशक्त देखकर ढूँढ़-फिर कर बिल्ली खायेगी ही। जब आपके पास जवाह-रात है, उसकी रक्षाका भी प्रयत्न करना ही होगा। घरमें कबतक जवाह-रात छिपायी जा सकती है। वहाँ भी तो डाकू पहुँच सकते हैं।

२७ जनवरी १९४० ई०

कोयलेकी खानमें हीरे

भारत-विभाजनके दिनोंमें मज़हबी दीवानोंने जो नर-मेध यज्ञ किये, उन्हें देखकर मालूम होता था कि भारतमें क़साइयों-चाण्डालोंका आधिपत्य हो गया है और दया एवं रहमदिलीको दफ़ना दिया गया है। इन्सानका भेष बनाये जब भेड़िये और लकड़बग्घे चारों ओर घूम रहे थे, तब भी नेकीके फ़रिश्ते जानपर खेलकर अपना फ़र्ज़ अदा कर रहे थे। एक ऐसे ही फ़रिश्तेके बारेमें दिल्लीसे प्रकाशित २९ अक्तूबरके 'उर्दू रियासत' में निम्न वाक़या शाया हुआ है,

मियाँवाली (नव्बे फ़ीसदो मुसलिम इलाक़े) के देहातके बीस-तीस हज़ार देहाती शहरको लूटने और हमला करनेके लिए जब मियाँवाली शहरके क़रीब पहुँचे तो वहाँके मुसलमान डिप्टी कमिश्नर मियाँवाली शहरसे बाहर निकल गये। आपके हाथोंमें क़ुरान था, आपने मजमेको मुख़ातिब (सम्बोधन) करते हुए कहा, "यह क़ुरान है, इसमें मुझे दिखा दो कि कहाँ बेगुनाहोंका ख़ून और उनका लूटना जाइज़ है। अगर तुम क़ुरानमें दिखा दो तो मैं तुम्हें मियाँवाली शहरको लूटने और हिन्दुओंको क़त्ल करनेकी इजाज़त दे दूँगा और अगर क़ुरानमें इसके ख़िलाफ़ हुक्म है तो याद रखो कलामे-इलाहीकी बेहुरमतीके मुरतकिब (ईश्वरीय वाक्यके अपमानके दोषी) होंगे।" डिप्टी कमिश्नरके यह अल्फ़ाज़ सुनकर तमामका-तमाम मजमा अपने देहातको वापस चला गया और यह वाक़या है कि इस ज़िलेमें किसी एक हिन्दूका भी क़त्ल नहीं हुआ।

नवम्बर १९५२ ई०

तिनकेके बदले सोना

यह उन दिनोंकी बात है, जब भारतमें आबादी कम, जंगल ज़्यादा थे, आने-जानेके साधन सीमित थे। अतः सौ-पचास कोसका सफ़र भी लोग सिरपर कफ़न बाँधकर करते थे। छोटे-छोटे राज्योंकी भरमारके कारण सुरक्षाका उचित प्रबन्ध नहीं था। ठगों-बदमाशोंकी दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ोतरीके कारण जन-धन हर समय ख़तरेमें थे।

एक सेठ व्यापार करने परदेश चले तो रुपया साथ लेनेके बजाय, उन्होंने सोना खरीदकर एक पोले बाँसमें रख लिया और उस बाँसको कन्धेपर लाठीकी तरह रखकर घरसे प्रस्थान कर दिया। थोड़ी दूर जानेपर वृक्षके नीचे उन्हें एक और बटोही मिला जो शक्लो-शबाहतसे धार्मिक और कुलीन मालूम होता था।

वह भी सेठके साथ हो लिया और दोनों बातें करते हुए चलते रहे। थोड़ी दूर जानेपर बटोहीने सिर खुजानेको पगड़ी उतारी तो पगड़ीपर एक तिनका लगा हुआ देखकर उद्विग्न हो उठा। सेठके पूछनेपर बोला, "न जाने यह तिनका किस पेड़का मेरे साथ आ गया है, वह वृक्ष भी न जाने मेरे बारेमें कैसी कल्पना करता होगा? मुझे क्या अधिकार था जो मैं उसका तिनका अपने साथ लेता आया? आज तिनका लाया हूँ, कल फल चुरानेकी भी नीयत हो सकती है। यह तो सरासर धोखा है। जिस वृक्षने मुझे शरण दी उसीके साथ यह विश्वासघात मुझसे न हो सकेगा। जबतक उसका तिनका वापस न दे आऊँगा, अन्न-जल ग्रहण नहीं कर सकता।" कहता हुआ बटोही उलटे-पाँव लौट चला। सेठने बहुत समझाया

कि यह तो स्वाभाविक है, इसके लिए इतने उद्विग्न और हैरान होनेकी क्या बात है। मार्ग चलते तिनके-कांटे लग ही जाते हैं। परन्तु बटोही न माना और वह तिनका यथास्थान छोड़नेके लिए वापस मुड़ गया।

साथ छूट जानेके कारण सेठको अटपटा-सा तो लगा, परन्तु वह बटोही-की इस नेक-नीयतपर मुग्ध हो गया। थोड़ी देरमें फिर उसे आते देख सेठ बहुत प्रसन्न हुआ।

आगे चलकर दोनों जने एक उद्यानमें भोजन करने बैठे तो कुत्ते भी आ गये। कई बार उन्हें हटानेका प्रयत्न किया गया, परन्तु वे वहीं चक्कर काटते रहे। कुत्तोंकी हरकतसे बटोहीको ताव आ गया, वह सेठजीका बाँस–जिसमें सोना रखा हुआ था–उठाकर उन्हें खदेड़नेको लपका। सेठजी आवाज़ दे रहे हैं, "अरे भाई क्यों हैरान होते हो, हमारा ये क्या बिगाड़ते हैं। एक-दो टुकड़ा यह भी खा लेंगे।" मगर वहाँ कौन सुनता था? कुत्ते इधर-उधर भागकर लौट भी आये, परन्तु वह भागा तो वापस न आया। इतने ईमानदारको कुछ हो न गया हो, इसी चिन्तामें सेठजी घर लौट गये। रीते हाथ व्यापार करने भी कैसे जाते?

२१ अगस्त १९५५ ई०

ये अन्धविश्वासी

"पीपीगंज—यहाँसे तैंतालीस मीलकी दूरीपर स्थित शोहरतगढ़ नामक स्थानके पाससे एक अनोखा समाचार प्राप्त हुआ है। कहा जाता है कि एक स्यार गाँवके पश्चिममें किसी कारणसे मर गया। मादा स्यारिनने पति-वियोगमें कई दिनों तक निराहार रहकर प्राण त्याग दिये। यह बात चारों ओर फैल गयी और लोग झुण्डके-झुण्ड आकर, उस स्थानकी पूजा करने लगे। वहाँ एक बेदी बना दी गयी है। जहाँ लोग आकर अपनी मनौतियाँ मना रहे हैं।

इलाहाबादसे प्रकाशित २४ जुलाईकी 'अमृतपत्रिका'में उक्त समाचार पढ़ा तो इन अन्धविश्वासियोंकी ऐसी कई हरकतें स्मरण हो आयीं।

बचपनमें किसी शास्त्रमें पढ़ा था कि अमुक शहरमें राजाकी सवारी निकल रही थी कि राज्य-कर्मचारियोंने देखा कि जुलूसके मार्गमें किसी बच्चेने टट्टी कर दी है। राजाकी सवारी नज़दीक आ चुकी थी, मेहतरको बुलवाकर उठवानेका समय नहीं था। चट एक दूरन्देशने वहीं खड़े हुए मनुष्योंसे फूल लेकर उसपर डाल दिये। राजाकी सवारी निर्विघ्न गुज़रनेके बाद भीड़के लोगोंमें-से कुछने कौतूहलवश ज़मीनपर फूल चढ़ानेका कारण पूछा तो किसी मसखरेने कह दिया, "पृथ्वीसे गन्दी देवी प्रकट हुई हैं।" इतना सुनना था कि हियेके अन्धोंने फूल चढ़ाने शुरू कर दिये और एक अवसरवादी मज़हबी दीवानगीके नामपर गाँवके पूरे लोगोंसे चन्दा उगाह-कर उसी स्थानपर मन्दिर बनवाकर महन्त बन बैठा।

उक्त कथा जब पढ़ी तो हँसी खूब आयी, परन्तु घटनाकी वास्तविकतापर विश्वास नहीं हुआ। भला, माथेमें आँखें होते हुए भी मनुष्य ऐसे मूर्खतापूर्ण कार्य कर सकता है? हरगिज़, हरगिज़ नहीं। लेकिन मेरा यह सन्देह एक लेखके पढ़नेसे दूर हो गया। जहाँतक मुझे स्मरण पड़ता है, इसके लेखक प्रसिद्ध समाजवादी नेता श्री जयप्रकाशनारायण थे।

उनके लेखका सारांश यही था कि बिहारके अमुक इलाक़ेमें टामीबाबाकी बहुत अधिक मान्यता है। दूर-दूरसे लोग आकर उसकी क़ब्रपर मनौतियाँ मनाते हैं, माथा रगड़ते हैं। क़ब्रों और पत्थरोंकी पूजा तो अपने देशमें कोई अनहोनी बात नहीं, सर्वत्र इस प्रथाका बोलबाला है, लेकिन टामीबाबाके बेढंगे नामसे मुझमें कौतूहल यहाँतक बढ़ा कि जैसे भी हो, वास्तविक तथ्यके जाननेको मैं बेचैन हो उठा और १९४२ के आन्दोलनके बाद जब मुझे स्वतन्त्र घूमने-फिरनेका अवसर मिला तो व्यस्त होते हुए भी टामीबाबाकी शोध-खोजको निकल पड़ा। बहुत परेशान होनेके बाद क़ब्रके अहातेमें ही रहनेवालेसे विदित हुआ कि यहाँ एक अँगरेज़ अफ़सर रहा करता था। सन्तान न होनेके कारण पति-पत्नी बहुत दुःख महसूस किया करते थे, और सन्तानोचित समस्त लाड़-प्यार वे अपने टामी कुत्तेपर उँड़ेल कर सुखका अनुभव किया करते थे कि दुर्भाग्यसे वह भी मर गया। टामी मरा तो वह दम्पति इस तरह बिलख-बिलखकर रोते थे कि कोई क्या अपनी औलादको रोयेगा। उसकी क़ब्र उन्होंने अपने इसी बँगलेके बगीचेमें बनवायी। रोज़ाना उसकी स्मृतिमें आँसू और फूल चढ़ाया करते थे। उनकी देखा-देखी बँगलेके हिन्दू-मालियों और नौकरोंने भी फूल चढ़ाने शुरू कर दिये। बस फिर क्या था, भेड़िया-चाल शुरू हो गयी। अँगरेज़ तो विलायत चला गया, मगर उसके कुत्तेकी पूजा बराबर हो रही है।

लेख पढ़कर बेसाख़्ता मुँहसे निकल पड़ा, जो हिन्दुस्तानी कुत्तेकी भी पूजा कर सकते हैं, उन्हें अँगरेज़ अगर कुत्ता कहते हैं तो क्या बुरा कहते

हैं। दिल्लीमें यमुनाके पास कुदसिया बाग़ है। कुछ इलाक़ेके स्नानार्थियों-को उसीमें-से होकर गुज़रना पड़ता है। बगीचेके एक संकीर्ण मार्गके दोनों तरफ़ म्यूनिस्पल कमेटीने ताँगे आदिकी रोकके लिए दो पत्थर गड़वा दिये हैं। किसी कौतुकीने उन पत्थरोंपर तनिक-सा सिन्दूर लगा दिया। बस फिर क्या था, उन पत्थरोंको देवता बनते देर न लगी। आते-जाते हज़ारों स्नानार्थी फूल-जल चढ़ाते हैं, मत्था टेकते हैं।

सन् १९१० में श्रवणबेलगोलमें बाहुबलि स्वामीका महामस्तकाभिषेक था। भारतके कोने-कोनेसे लाखों जैन एकत्र हुए थे। म० भगवानदीनजीने श्रद्धाका मापदण्ड परखनेके लिए एक चट्टानपर अर्घ रख दिया। दूसरे दिन जाकर देखा कि उस स्थानपर अर्घोंका ढेर लगा हुआ है, और जैन भक्ति-भावपूर्वक उस स्थानकी वन्दना कर रहे हैं।

मर्दुमशुमारीकी तरह भारतके देवी-देवताओंकी भी गणना की जाये तो निश्चय ही विश्व-भरकी जन-संख्यासे कई गुना अधिक बैठेगी। आकाश-के तारोंकी गणना हो जाना तो सम्भव हो सकता है, परन्तु भारतके देवी-देवताओंकी गणना क़तई नामुमकिन है।

कौन-सी ऐसी अभागी वस्तु है हमारे यहाँ, जिसकी पूजा न होती हो? पृथ्वी देवता, अग्नि देवता, जल देवता, वृक्ष देवता, सूर्य देवता, चन्द्र देवता, इन्द्र देवता ही होते तो भी ग़नीमत थो। यहाँ तो शूकर तकको अवतार मान लिया गया है। अकेले गौमें तैंतीस करोड़ देवताओंकी स्थापना करनेसे ही सन्तोष नहीं मिला, पहाड़ोंके करोड़ों पत्थर देवता बना डाले। हर नदी-नाले पूज्य बना दिये गये।

किसी मसखरेने मोरीके पत्थरको चूनेसे पोतकर रातको दीया जला दिया। दूसरे ही रोज़ वह पीरका थान बन गया और मुहल्लेकी बहुएँ नाकमें नथ पहनकर दीप सँजोनेको निकल पड़ी हैं। अब क्या मजाल जो मकान-मालिक उसे हटा सके? मकान गिर पड़ा है, मालिक उसे दोबारा बनवाना चाहता है, मगर मज़हबी दीवाने लाठियाँ ताने खड़े हैं और ब-ज़िद

हैं कि यहाँ पीरका थान बनेगा, मकान बनाना हो तो उससे हटाकर बनाओ। बहुत-सी इमारतें पीपल निकल आनेसे बरबाद हो रही हैं, रहनेवाले बेहद परेशान हैं। काटनेका आभास मिलते ही मज़हबी दीवाने जुट जाते हैं और वे पीपल काटनेवालेका सिर काटना अपना नैतिक कर्तव्य समझते हैं। मनुष्य काट दिया जाये तो फिर भी पैदा हो जायेगा, पर पीपल देवता कटे तो फिर कहाँसे आयेंगे ?

हमारे देशमें ऐसी अनेक क़ब्रें हैं, जहाँ मुर्दे कभी दफ़नाये ही नहीं गये। चण्ट लोगोंने साम्प्रदायिक तनातनीके अवसरपर मजहबी दीवानोंको उभारकर सार्वजनिक स्थानोंपर रातों-रात मज़ार बनवा लिये और स्वयं मजावर[1] बन बैठे और जब मज़ार बन गया तो चिरागाँ करनेवालों और चढ़ावा चढ़ानेवालोंकी अपने देशमें क्या कमी ? बाज़ वक़्त हाथ शुद्धिको मिट्टीका ढेला न मिले, पर इस तरहके हियेके अन्धे सर्वत्र और सब जगह मिलेंगे।

ऐसे ही अन्धविश्वासियोंको बदौलत राजपूतानेमें एक ऐसो निर्लज्ज प्रथा चल पड़ी है कि निर्लज्जता भी भाग खड़ी होती है। होलीके अवसरपर किसी होलीके भड़ुवेने एक विशाल मिट्टीकी नग्न मूर्ति बनवायी और प्रचार किया कि जो भी वन्ध्या स्त्री इसके लिंगकी पूजा करेगी, सन्तानवती होगी। उस साल तो लोग उसे देखकर खूब हँसे-उछले। फिर धीरे-धीरे पूजा होने लगी; और इस मज़ाक़ने वास्तविकताका वह रूप धारण किया कि राजस्थानके गांव-गांवमें ऐसी अश्लील मूर्तियाँ बनी हुई हैं। जहाँ प्रतिवर्ष होलीके अवसरपर खुले आम पूजा करने उसी भक्तिभावसे स्त्रियाँ जाती हैं, जिस भक्तिभावसे महादेवजीको पूजने जाती हैं।

वह लतीफ़ा तो सुना ही होगा कि एक गधेके मर जानेपर किस प्रकार समूचे शहर और छावनीकी फ़ौजने सिर मुड़ा लिये थे।

---

१. क़ब्रोंके चढ़ावेको लेनेवाले।

इन हियेके अन्धे और गाँठके पूरे लोगोंसे फ़ायदा उठानेको कभी भगत हीरालाल, कभी दादा लेखराज, कभी बाबा नेपाली पैदा होते ही रहते हैं। भारतमें लाखों महन्त, साधु, पण्डे भट्टारक, फ़क़ीर, औलिया, इन्हींके भरोसे चैनकी वंशी बजाते हैं। धन ही नहीं लूटते इस्मत-दरी भी करते हैं।

धर्मके नामपर पत्थरों, पेड़ों, नदी, नालों, गोबर-मिट्टी और लुच्चे-लफ़ंगोंकी पूजा ही नहीं होती, धर्मके नामपर संसारमें अनेक अत्याचार भी होते आ रहे हैं।

सितम्बर १९५१ ई०

शुद्ध भाषाकी सावधानी

ख़ुदा-ए-सुखन मुहम्मद तक़ी 'मीर' दिल्ली उजड़नेके बाद जब आजीविकाकी खोजमें लखनऊ प्रस्थान करने लगे तो उनके पास समूची बैल-गाड़ीके लिए किराया भी न था। अतः एक और यात्रीको साझी किया। मार्गमें यात्रीने बात-चीत करनी शुरू की तो 'मीर' साहब मुँह फेरकर बैठ गये। थोड़ी देर बाद उसने बात-चीतका सिलसिला फिर प्रारम्भ किया तो 'मीर' साहब तेवर बदलकर बोले,

"बेशक आपने किराया दिया है। आप गाड़ीमें शौक़से बैठे चलें, मगर बातोंसे क्या तअ़ाल्लुक़ ?"

यात्रीने कहा, "हज़रत, क्या मुज़ायका है ? रास्तेमें बातोंसे जी बहलता है।"

'मीर' साहब बिगड़कर बोले, "जी, आपका तो जी बहलेगा, मगर मेरी ज़बान (भाषा) ख़राब हो जायेगी[1]।"

१. शेरो-शाइरी पृ० १५७।

निन्दामें लाज

विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी बढ़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति कुछ महानुभावोंको फूटी आँखों नहीं सुहाती थी। उनके ईर्ष्यालु हृदय जब व्यथित हो उठे तो उन्होंने अपनी हृदय-जन्य कलुषिता पत्र-पत्रिकाओं-द्वारा बखेरनी प्रारम्भ कर दी, किन्तु विश्व-कवि निर्लिप्त भावसे सब कुछ सहन करते रहे।

प्रसिद्ध उपन्यासकार शरच्चन्द्रसे इन कटु आक्षेपोंका सहना दूभर हो गया तो वे विश्व-कविके पास इस आशयसे गये कि वे इन आलोचकोंका मुँह बन्द करनेका कुछ उपाय करें। आशय सुनकर विश्व-कविने शान्त कण्ठसे कहा,

"उपाय क्या है, शरत् बाबू, जिस शस्त्रको लेकर वे लोग लड़ाई करते हैं, उस शस्त्रको मैं हाथसे छू भी तो नहीं सकता।"

और एक दिन किसी ऐसी ही बातके उत्तरमें उन्होंने कहा, "जिसकी बड़ाई नहीं कर सकता, उसकी निन्दा करनेमें भी मुझे लज्जा लगती है।"[१]

१९ सितम्बर १९५५ ई०

---

१. हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-द्वारा प्रकाशित शरत्-निबन्धावली पृष्ठ १२७।

चिढ़ कैसे बनती है ?

मिर्ज़ा ग़ालिबके पास उनके एक पड़ोसी नवाब साहब बैठे हुए थे। शाइरीका शौक़ उनको भी था। दौराने-गुफ़्तगू वे पूछ बैठे, "मिर्ज़ा साहब, यह तो फ़र्माइए कि चिढ़ बनती कैसे है ? अजीब-अजीब क़िस्मकी लोगोंने चिढ़ निकाल रखी हैं। कुछ लोग बैंगन, मूली, हलवा वग़ैरह खानेकी चीज़ोंसे चिढ़ते हैं। कुछ लोग मामू, चचा, ताया कहनेसे चिढ़ते हैं....।"

मिर्ज़ा बात काटकर बोले, "अमाँ, दफ़ान करो इस ज़िक्रको। आपके यहाँ सिरका है क्या ?"

"नहीं तो, क्यों क्या ज़रूरत आ पड़ी ?"

"हकीमजीने नुस्खेमें लिख दिया है, और मुझे बाज़ारी सिरकेका यक़ीन नहीं। पड़ा हो तो भिजवा दीजिए ज़रा-सा चाहिए।"

"ख़ुदा क़स्म, सिरका कल ही ख़त्म हुआ है। होता तो भला मना करता और वह भी आपके लिए।"

"तब तो मजबूरी है फिर भी देख लीजिए। थोड़ा-सा भी हुआ तो काम बन जायेगा।"

"अल्लाह जानता है, कल मेरे ही सामने ख़ाली मर्तबान धोकर रखा गया है। काश आपने कल ज़िक्र किया होता।"

"कल ज़िक्र कहाँसे करता ? नुस्ख़ा तो आज लिखा गया है। दो-चार तोले भी इनायत हो जाता तो काफ़ी था।"

मिर्ज़ाके बार-बार इसरारपर नवाब साहब पहले तो क़ायल-से हुए,

फिर चिढ़-से गये। फ़र्माया, "आप नाहक़ शर्मिन्दा कर रहे हैं। मैं अब कैसे यक़ीन दिलाऊँ कि घरमें एक बूँद भी सिरका नहीं है।"

मिर्ज़ा आजिज़ीसे बोले, "नवाब साहब, ज़रूरत ही ऐसी आ पड़ी थी। वर्ना मैं इस तरह इसरार न करता। ख़ुदाके लिए ज़रा-सा भिजवा देते।"

नवाब साहब बरहम हो गये। उठते हुए बोले, "मैं जानता हूँ या मेरा ख़ुदा, जो घरमें एक बूँद भी सिरका हो। फिर भी आप यक़ीन नहीं ला रहे हैं। अब साहब कलेजा निकालकर तो मैं आपको दिखा नहीं सकता। यही समझ लीजिए कि मैं देना नहीं चाहता।"

"नवाब साहब, आप तो नाहक बरहम हो रहे हैं। क्या ज़रासे सिरकेकी औक़ात? थोड़ा-सा भिजवा देते तो कुछ क़ारूँका ख़ज़ाना ख़ाली न हो जाता।"

नवाब साहबका ठहरना दूभर हो गया। वे वहाँसे बड़बड़ाते चल दिये, "अच्छे सनकोसे पाला पड़ा है साहब। सठिया गये मालूम होते हैं। हम लाख-लाख क़समें खाये जा रहे हैं। मगर हज़रत अपनी कहे जा रहे हैं। अपने-जैसा ख़सीस सबको समझते हैं। बुज़ुर्ग और अदीब समझ कर पास आ बैठते थे। हमें क्या इल्म था कि बेरीकी झाड़ीकी तरह लिपटते हैं तो नाकों दम कर देते हैं।"

नवाब साहब चले गये तो मिर्ज़ाने मुलाज़िमको बुलाकर कहा, "हमारे पड़ोसी नवाब साहब जो अभी-अभी यहाँ बैठे थे, उनके यहाँ जाओ और एक चीनीकी प्यालीमें सिरका माँग लाओ।"

मुलाज़िमके दस्तक देनेपर नवाब साहब बाहर आये तो नौकरने प्याली दिखाते हुए अर्ज़ किया, "हुज़ूर, मिर्ज़ा साहबने ज़रा-सा सिरका तलब फ़र्माया है।"

नवाब साहबको अब बरदाश्त कहाँ? बिगड़कर बोले, "अरे भई, हज़ार

मर्तबा कह दिया कि हमारे यहाँ सिरका खत्म हो गया है। मगर मिर्ज़ाको यक़ीन ही नहीं आता। अब कहें तो काबेकी तरफ़ हाथ उठाकर क़सम खायें या क़ुरान छूकर कहें कि ब-खुदा हमारे यहाँ सिरका नहीं है।"

मुलाज़िमको लौटते देख मिर्ज़ा बोले, "अरे भई, तुम खाली हाथ लौट आये। एक बार फिर जाओ। आवाज़ देनेपर नवाब साहब आयें तो मुँहसे कुछ न कहना, सिर्फ़ प्याली दिखा देना। मुमकिन है, सिरका दे दें।"

मुलाज़िम हैरान कि या इलाही यह माजरा क्या है? मगर आक़ाका हुक्म था जाना पड़ा। नवाब साहब अभी तावमें भरे बाहर ही खड़े थे। मुलाज़िमको प्याली लिये हुए अपनी तरफ़ आते देखा तो चिराग़-पा हो गये। पाँवका जूता निकालकर मारने लपके तो मुलाज़िम भी कन्नी काटकर दूर जा खड़ा हुआ। नवाब साहब गालियाँ बकते, जूता फेंकते, मुलाज़िमके पीछे-पीछे फिरने लगे और वह शोख दूर रहता हुआ प्याली दिखाता रहा।

नवाब साहबको इस तरह उलूल-जुलूल बकते देख राह चलते लोग खड़े हो गये। लोगोंने देखा कि हज़रत सिरकेसे चिढ़ रहे हैं। बस फिर क्या था तमाशायी भी—'नवाब साहब सिरका, नवाब साहब सिरका' कहकर चुहल करने लगे। चन्द रोज़में ही कानों-कान खबर फैल गयी। नवाब साहबको देखते ही बच्चे हाथको प्यालीनुमा बनाकर 'नवाब साहब सिरका' कहते और भाग खड़े होते। नवाब साहब गालियाँ देते-देते परेशान हो गये। घरसे निकलना बन्द कर दिया। मगर यह बवा घरमें भी फैल गयी। चची, भावज, बहन, भाईको न जाने क्या मज़ा आता कि वे ऐसे जुमले बोलते जिसमें सिरका शब्द ज़रूर होता।

नवाब साहब मन-ही-मनमें कुढ़ते, बाल नोचते और ताव खाकर रह जाते। अब उन्हें मिर्ज़ाकी शक्ल तकसे नफ़रत हो गयी। कई बार उन्होंने बुलावा भेजा, मगर न गये। एक रोज़ मिर्ज़ा खुद ही आये तो उन्हें देख-

कर उबल पड़े। मिर्ज़ा मुस्कराकर बोले, "नवाब साहब, आप ही ने तो उस रोज़ पूछा था कि चिढ़ क्यों कर बनती है ? बताइए इसमें मेरा क़ुसूर क्या है ?"

३ अक्टूबर १९५५ ई०

जिसकी लाठी उसकी भैंस

एक जाट पैंठसे दो-सौ पचास रुपयेकी भैंस खरीदकर लिये जा रहा था कि रास्तेमें एक लुटेरा मिल गया। उसने लाठी तानते हुए कड़ककर कहा, "ख़बरदार, आगे न बढ़ना, भैंसका रस्सा मुझे थमाकर अपना रास्ता नाप।"

ज़ाट खाली हाथ था। भैंसका भाव-ताव करते समय न जाने उसकी लाठी कौन उचक्का ले गया था। अतः वह गिड़गिड़ाकर बोला, "ज्वान, ग़रीब आदमी हूँ। बाल-बच्चे दूधको बिलख उठे तो लाचार करज काढ़के भैंस लाया हूँ। मुझे जाने दे, तुझे भगवान् कहीं और देगा।"

"हाथ आया माल छोड़नेवाले कोई और उल्लू होंगे। सीधी तरह भैंस हवाले करता है या धरूँ सिरपै एक लट्ठ।"

"अच्छा चौधरी, जैसी तेरी मरज़ी! ले यह भैंस। मगर ख़ाली हाथ घर कैसे जाऊँगा, घरवाली क्या कहेगी?"

"उसके हाथमें यह लाठी थमा देना।" यह कहकर लुटेरेने अपनी लाठी जाटको देकर जो भैंसका रस्सा पकड़ना चाहा तो कड़कके जाट बोला,

"भैंसको हाथ लगाया तो खोपड़ी धरतीपर सैन मारती दिखाई देगी। ख़ैर चाहे तो चुपचाप चला जा।"

"ओ-हो हाथमें लाठी आते ही आँखें बदल लीं।"

"जा मूरख, अपना रास्ता नाप। नहीं तो कपड़े-लत्ते सब धरवा लूँगा? अब तो तेरे-जैसे बीसपै भारी हूँ।"

अक्टूबर १९५४ ई०

उँगली पकड़के…

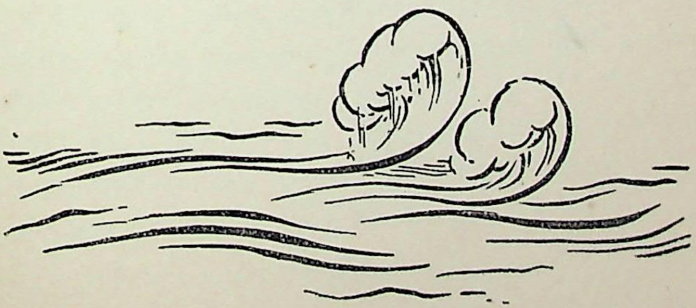
कुछ हाजी अरबके रेगिस्तानमें ख़ेमेमें बैठे हुए मज़हबी गुफ़्तगू कर रहे थे कि उनका ऊँट वहाँ आया और अपनी गरदन ख़ेमेके अन्दर डालकर खड़ा हो गया। ऊँटकी इस हरकतसे हाजी लोग बहुत भिन्नाये, मगर यह सोचकर चुप हो गये कि बाहर कहीं सायेदार पेड़ नहीं है। इस चिलचिलाती धूपमें ग़रीब कहाँ खड़ा होता? इस शिद्दतकी गरमीमें जब हम ख़ेमेमें बैठे-बैठे पसीने-पसीने हुए जा रहे हैं तब यह बेचारा तो धूपमें ही खड़ा है, सिर्फ़ गरदन अन्दरकी है।

थोड़ी देर बाद ऊँटने अपना एक पाँव भी ख़ेमेमें रख लिया। हाजी चीं-ब-जबीं हुए, मगर चुप रहे। लम्हे-भर बाद दूसरा पाँव भी रखा तो हाजियोंके सब्रका बाँध टूट गया। मगर उनमें-से एक बोला, "वह ग़रीब दर अस्ल बाहर ही खड़ा है, इत्तिफ़ाक़न दो पाँव अन्दर रखे गये हैं। इसका इरादा तुम्हें अज़ीयत पहुँचानेका नहीं है। आप ज़री सब्र कीजिए वह ख़ुद ही पाँव हटा लेगा।"

हाजी मुन्तज़िर थे कि ऊँट पाँव निकाले तो आराम किया जाये कि उन्होंने देखा ऊँट चारों पाँव समेत ख़ेमेमें मौजूद है, और मरने-मारनेपर आमादा है। नाचार हाजियोंको ख़ेमा छोड़कर भागना पड़ा।

५ अक्टूबर १९५५ ई०

जो समझा



विश्रान्तिके आँचलमें स्वतन्त्र कल्पनाके बोधसे
जो समझा

ख़ानदानी ज़ोम

"कहो यार, तुम्हारा नौकर है या लद्दू-टट्टू ? एक वर्षसे ऊपर होनेको आया, मगर भागनेका नाम नहीं लेता।"

"सचमुच टट्टू है। मैं ख़ुद इन रोज़ाना भागनेवाले मुलाज़िमोंसे तंग था। सुबह आये तो शामको ग़ायब और शामको आये तो सुबह चम्पत।"

"फिर यह कहाँ हाथ लगा भाई ? इसी नस्लका हमें भी कोई दिलाओ न यार, तुम्हारी भाभी ता-उम्र एहसान न भूलेगी। बग़ैर नौकरके ग़रीब बहुत परेशान है।"

"परेशानीकी तो बात ही है साहब, अकेली जान कहाँतक मरती-खपती रहे। आप इत्मीनान रखिए। मैं इसीसे आपके लिए मुलाज़िम तलाश करनेको कहूँगा। मगर एक शर्त होगी, काश तुम्हारी श्रीमतीजी मंजूर फ़र्मायें ?"

"भई, वह क्या ?"

"यही कि जब ये हज़रत तशरीफ़ लाये तो बोले, "साहब, हम मामूली घरानेके नहीं हैं। हमारी सात पुश्तने नवाबी की है। हम आपकी जाए-ज़रूर (शौचालय) तक साफ़ करेंगे। मगर बा-इज़्ज़त बोलेंगे और बुल-वायेंगे। हुज़ूर, आप हमें 'नवाब साहब' कहकर आवाज़ दीजिएगा और 'आप' कहकर बोलिएगा। जिस रोज़ भी चूकिएगा, उस रोज़ हम आपके यहाँका पानी पीना भी हराम समझेंगे। जी हाँ हुज़ूर, इज़्ज़त है तो जहान है। ख़ुदकुशी कर लेंगे मगर वक़ारमें बाल न आने देंगे।"

"हमें इस शर्तमें क्या आर होती। घर-भर 'नवाबसाहब' कहकर आवाज़

देता है, 'आप' कहकर बुलाता है। नतीजा यह है कि सुबह पाँच बजे उठ कर कोठीकी सफ़ाई करता है, बिस्तरे उठाता है। बाज़ारसे सौदा-सुलफ़ लाता है, जूतोंपर पालिश करता है। मोटर ड्राइव करके बच्चोंको स्कूल छोड़ आता है। कपड़े धोता है, शामको बच्चोंको बिन्नौट और तलवारके हाथ सिखाता है। बाग़बानी करता है, रातको बच्चोंको कहानियाँ कहकर सुलाता है। ग़रज़ ऐसा काम कौन-सा है, जो वह न जानता हो। श्रीमती-जी चाहें तो खाना भी पुरलुत्फ़ बना सकता है...."

"भई, हम बाज़ आये ऐसे नौकरसे। हमारी श्रीमतीजी काम बादमें बताती हैं। नाशपीटा, मुँहजला, हरामखोर, जानवर-जैसे आशीर्वाद पहले देती हैं। उन्हें घरके सब काम खुद करने मंजूर, मगर नौकरको इन्सान समझना एक लम्हेको भी मंज़ूर नहीं। वे भी थानेदारकी लड़की हैं। बात-बातमें खानदानी जाहो-जलालकी दुहाई देती हैं! नौकर तो कुजा, अड़ोसी-पड़ोसी उनसे घबराते हैं। "खाल खिचवा लूँगी, बोटियाँ कुत्तोंसे नुचवा दूँगी, जीते-जी दीवारमें चुनवा दूँगी", यह तो उनका तकिया-कलाम है। इसलिए भाई, हमें तो कोई ऐसा मुलाज़िम दिलवाओ जो इन सब बातोंका आदी हो। चाहे कामका मट्ठा भले ही हो।"

"अरे साहब, ऐसा मुलाज़िम तो चिराग़ लेकर ढूँढ़नेपर भी न मिलेगा। भगवान् तुम्हारी हालतपर रहम खाकर अपने हाथसे कोई गढ़कर भेजे तो काम बने।"

१६ मार्च १९५५ ई०

आन-बान

"ठाकराँ, ज़रा हमारी शतरंज तो लाओ।

"मालिक, एक विनती करूँ अगर बुरा न मानें तो?"

"कहो।"

"मुझे आप ठाकराँ न कहा कीजिए। कोई सुन लेगा तो क्या कहेगा कि राजपूत होकर ....।"

"भई, जब तुम राजपूत हो, तब राजपूती मर्यादानुसार हमें तुम्हारे साथ बरताव करना चाहिए, इसमें तुम्हें क्या पसो-पेश है?"

"हुज़ूर, इससे मुझे ग़ैरत आने लगती है, धमनियाँ झनझना उठती हैं। अगर आप इसी तरह इज़्ज़त देते रहे तो मुझसे नौकरी नहीं हो सकेगी। मुझे अपने पूर्वजोंकी ठाकुरी-ठसक याद आने लगती है। पेटकी आगने मजबूर कर दिया, वर्ना...!"

"कोई बात नहीं, तुम इस घरको अपना ही घर समझो ठाकराँ, हम तो तुम्हें अपने परिवारका एक सदस्य समझते हैं। स्वप्नमें भी ग़ैर नहीं समझते।"

"यह आपका बड़प्पन एवं सौजन्य है। अन्यथा मैं अपनी मौजूदा औक़ातसे बेखबर नहीं।"

"ठाकराँ, ऐसी बात न कहो। हम भी तुम्हारे खानदानके कारनामोंसे थोड़े-बहुत वाक़िफ़ हैं। यह तो ढलती-फिरती छाँव है। अभी यहाँ, अभी वहाँ। ज़मीन-जागीर विलय हो जानेसे वंश-परम्परागत गौरव-गरिमा, शील-सौजन्य नष्ट नहीं होते हैं।

हमें मालूम है तुम्हारे परपितामह शेरका शिकार पैदल ही किया करते थे। तुम्हारी दादीका यह आम दस्तूर था कि अपने दरवाज़ेसे गुज़रनेवाले बटोहीको भोजन कराये या दूध पिलाये बिना नहीं जाने देती थीं। थानेदारके अकड़कर बोलनेपर तुम्हारे बापने उसकी मूँछें उखाड़ ली थीं। पनघटपै घूरते देख तुम्हारे चचाने पठानका काला मुँह करके गाँवमें घुमा दिया था.....।"

"बस-बस मालिक, इन बातोंके स्मरणसे क्या लाभ? मेरे पूर्वज यह थे और वह थे, इसके बजाय मैं क्या हूँ, मुझे यही खयाल रखना है। पूर्वजोंकी आन-बानको मेरी किसी हरकतसे ठेस न लगे। मेहनत-मज़दूरी करके बाल-बच्चोंका भरण-पोषण करूँ, किसीके आगे हाथ न पसारना पड़े। नमक-हराम, बेवफ़ा, बेग़ैरत न कहलाऊँ। मेरे दामनपर कलंकका दाग़ न लगे, यही मेरे जीवनकी साध है। भगवान्के वास्ते आप मेरा आधा नाम लिया कीजिए।"

१६ मार्च १९५५ ई०

जान बची लाखों पाये

मुन्शी सम्पतलाल दिल्लीमें हमारे मुहल्लेमें ही रहते हैं। बहुत ही पुर-लुत्फ़, मिलनसार और मेहमाँनवाज़ हैं। अकबर बादशाहकी तरह गुणियों-के क़द्रदाँ हैं। शाइर, शातिर, पहलवान, खिलाड़ी, हकीम, ज्योतिषी, लेखक, गायक आदि सभी प्रकारके कलाविद् उनकी मित्र-मण्डलीमें नज़र आते हैं। दोस्तोंके आड़े वक़्तमें काम आते हैं। अपने-परायेसे शिष्टाचारसे पेश आते हैं, परन्तु फिर भी लोग उनसे घबराते हैं, सामने दिखाई दें तो लोग कतराके निकल जाते हैं, और इसका कारण केवल इतना-सा है कि उनकी बातोंका सिलसिला कभी समाप्त नहीं होता। शैतानकी आंतकी तरह बढ़ता ही रहता है।

चाहे कोई ट्रेन पकड़नेकी शीघ्रतामें हो, चाहे कोई दफ़्तर भागा जा रहा हो, चाहे किसीका बच्चा छतसे गिर रहा हो, चाहे कोई पेटके दर्दके कारण बदहवास घर जा रहा हो। मुन्शीजीका सामना होते ही सांपके सामने मेढ़क-जैसी स्थिति होते हुए हमने देखी है। 'दो मिनिट बात सुनना' कहकर वे जो सिलसिला शुरू करते हैं तो फिर किसीको चाहे जम्हाइयाँ आयें, चाहे वह अँगड़ाइयां तोड़, या बार-बार घड़ी देखकर सिर खुजलाये, उँगलियाँ चटखाये मगर सब व्यर्थ। मकड़ीके जालेके समान बातमेंसे बात निकलती चली जायेगी और सुननेवाला उसमें उलझता चला जायेगा।

एक रोज़ हम बहुत बौखलाये हुए-से जा रहे थे। वेतन मिलनेमें दो-तीन रोज़की देर थी और श्रीमतीजी उससे पहले ही बच्चा देनेका इरादा कर रही थीं। भागवान्‌को काफ़ी समझाया, मगर उसे जो तिरियाहठ लगी

तो मानके नहीं दे रही थी। शायद अपनी माँके समझाने-बुझानेसे बाज़ आ जाये, इसी आशासे बौखलाये हुए ससुरालकी तरफ़ जा रहे थे कि पीठपर किसीका हाथ रखा हुआ देखकर चौंके तो सामने मुन्शीजी खड़े मुस्करा रहे थे। मन्त्र-कीलितके समान वहीं खड़ेके-खड़े रह गये। मुन्शीजीकी गुल-अफ़शानी प्रारम्भ हो गयी,

"अबकी यार गढ़मुक्तेश्वरके मेलेपर बड़ा मज़ा आया। एक अकड़ू-खाँको ऐसा चारोंशाने चित्त मारा कि रहे नाम सांईका।"

हम हैरान कि ये मुट्ठी-भर हड्डियोंके इन्सान पहलवानी कबसे करने लगे? मगर हमें सोचनेका अवसर न देकर बोले,

"हमारे ख़ेमेके पास ही एक मिनिस्टर साहबका भी ख़ेमा लगा हुआ था, किसीको खातिरमें ही न लाते थे। हमें नमस्ते करनेके बजाय हमसे सलाम लेनेकी इच्छा रखते थे। हमें उनके ये तेवर पसन्द न आये। फिर क्या था, दो हज़ार कार्ड ब्रह्मभोजके उनके नामसे छपवाकर मेलेमें चुपचाप साधु-संन्यासियोंमें वितरण करवा दिये। नियत समयपर आमन्त्रित उनके ख़ेमेके सामने जमा होने लगे। मेम्बर साहबने समझा कि किसी अड़ोस-पड़ोसके ख़ेमेमें सदावर्त्तका आयोजन होगा। मगर जब आवश्यकतासे अधिक विलम्ब हुआ तो आमन्त्रित समूह शोर मचाने और गालियाँ देने लगा।

मिनिस्टर साहब इन ज़बर्दस्तीके मेहमानोंकी भीड़ देखकर बहुत घबराये। करते भी क्या, ख़ेमेमें आग लग जानेका भय देखकर चुपचाप बाज़ारसे पूरी-साग आदि बँटवाकर अपनी जान छुड़ायी। मगर उन्हें इसका कलक बहुत रहा। अपने एक परिचितसे जो हमारा भी परिचित था, ज़िक्र किया तो वे परिचित बोले,

आपके पड़ोसमें मुन्शीजी ठहरे हुए हैं, कहीं ऐसा तो नहीं कि आप उनके ख़ेमेपर सलाम करने न गये हों, और उन्होंने ही अपना यह एक अदना करिश्मा दिखाया हो। आखिर मिनिस्टर साहब ख़ेमेपर आये, काफ़ी देर तक अपनी असावधानीके लिए शर्मिन्दा होते रहे।"

हमने सोचा कि बात आज जल्दी समाप्त हो गयी है, चलो अब मुक्ति मिलेगी। लेकिन वे तुरन्त ही बोले, "अरे साहब, यह मिनिस्टर था ही किस खेतकी मूली, आपने लाहौरके सर गंगारामका नाम तो सुना ही होगा। सन् १९३२-३३ में एक मुक़दमेके सिलसिलेमें लाहौर रहना हुआ। उन्हींकी कोठी किरायेपर ली हुई थी। मुक़दमा ख़त्म होनेपर मैं उनके पास गया और कहा कि हम कोठी खाली कर रहे हैं, बिजली-नल वग़ैरह-की जो फ़िटिङ् हमने करायी है, उसकी क़ीमत मुजरे करके शेष किराया लेकर चुकती रसीद दे दीजिए।"

भला बताइए साहब, मैंने क्या ख़राब बात की? मगर वे बोले, "कोठीका किराया साल-भरका बाक़ी है, वह दे जाइए और अपना नल-बिजलीका सामान उखाड़कर ले जाइए।"

मैं इस बेहूदी बातका जवाब क्या देता, चुपचाप चला आया। भला बताइए साहब, बिजली-नलकी लागत मिलना तो दरकिनार, अब उनकी उखड़वाईकी लागत और लगायी जाये। सीधी उँगलियों घी कब निकलता है हज़रत, रातको कोठीपर क़व्वालियोंकी महफ़िल जमी, पुलाव, ज़र्देके देग़ चढ़े तो शोर और सुगन्ध उन तक भी जा पहुँची। आकर देखा तो पचास-साठके क़रीब मुसलमान जोशो-ख़रोशके साथ क़व्वालियोंमें महव थे। एकान्तमें ले जाकर मुझसे दरियाफ़्त किया तो मैंने भोलेपनसे जवाब दिया कि ख़्वाजा नजीमुद्दीन चिश्तीके भानजे मुलतानसे आते हुए लाहौरमें शहीद हुए थे। आपकी कोठीके अहातेमें उनकी क़ब्रका सूराग़ लगनेसे यह लोग ख़ुशियाँ मना रहे हैं। एक महीनेमें बहुत बड़ा उर्स लगेगा। सुना तो काठ मार गया, हज़रत चुपचाप चले गये और सुबह किरायेकी चुकता रसीद भेज दी। मैं जो शेष रुपया उनकी कोठीपर देने गया तो वह विस्फारित नेत्रोंसे मुझे देखने लगे। मैंने कहा, "आप अब विश्वास रखिए, वहाँ कोई क़ब्र वग़ैरह नहीं निकलेगी, उनका सिर्फ़ वहम-ही-वहम था।" सुना तो सन्तोषकी साँस ली और मुझे कृतज्ञता-भरे नेत्रोंसे देखने लगे।

अब हम मुन्शीजीसे निजात पानेके लिए उसी तरह देखने लगे, जैसे गौनावाली नींदसे मदमाती पाँव दबाती हुई अपनी सासकी ओर देखती हो। सासको तो आखिर तरस आ ही जाता है, मगर मुन्शीजीसे ऐसी आशा गूलरसे फूलकी आशा थी। उक्त बात समाप्त भी न हुई थी कि बोले,

"आप भी कहेंगे किस बातूनीसे वास्ता पड़ा है, मगर भई, एक बात सुनाये बग़ैर जी नहीं मानेगा। आपको तो मालूम है ही, कि हम कभी-कभी पी भी लेते हैं। क्या करें भई, हमसे तो इष्ट-मित्रोंका आग्रह टाला नहीं जाता। जब कभी ऐसी सुहबत हो जाती है, इस काफ़िरको भी मुँह लगा लेते हैं। एक हमारी बिरादरीके मुखिया हैं। हमारे पिताजीके मित्रों-में-से हैं। हमारा बहुत ख़याल रखते हैं। उन्हें किसी तरह हमारे इस शौक़-का पता लगा तो बुज़ुर्गाना नसीहतें जो दे सकते थे, दीं और हमने भी बा-अदब सुना, मगर वह साहब जो किसीने कहा है,

छुटती नहीं है, मुँह से यह काफ़िर लगी हुई

उनके सामने कान पकड़कर तौबा करनेपर भी कभी-न-कभी नीयत फ़िसल ही जाती है। एक-दो बार उन्होंने अपनी आँखोंसे भी देख लिया। बस फिर क्या था, जहाँ मिलते नसीहतें बरसाने लगते। हम सुनते और कान दबाकर निकल जाते। मगर उन्होंने तो समय-असमय सबके सामने ज़लील करना शुरू कर दिया। अब हमारा सब्रका बाँध भी टूट गया। दो-चार माह उनके नामसे शराबके बिल बनवाते रहे और एक रोज़ बिरा-दरीको पंचायतमें जेबसे अनजाने गिरा दिये। क्षण-भरमें वे दस-बीस पर्चे बिरादरीवालोंके हाथमें थे। उस रोजसे चचा कभी रास्तेमें दीखते हैं तो मुँह फेरकर चले जाते हैं।"

और सुनिए,

"यह जो·······दैनिक पत्रके मैनेजिङ् डायरेक्टर बने फिरते हैं। इनके आगे कभी मेरा ज़िक्र करना। हज़रतको पसीने न आ जायें तो मेरा ज़िम्मा। वह ज़िच दी है कि दूरसे नमस्ते करते हैं। सब हेकड़ी खाकमें मिला दी

इनके अख़बारको निकले चन्द रोज़ ही हुए थे। दिल्लीमें अकेला दैनिक पत्र था, ज़ोरोंसे चल निकला। बस फिर क्या था। हज़रतका ज़मीनपर पाँव ही न पड़ता था। चलते थे तो नीची नज़र करके ताकि किसीके सलामके लिए हाथ न उठाना पड़े। एक रोज़ हमसे चोंच खोल बैठे। हमने वहीं झाड़ा, "तेरे-जैसे न जाने कितने चरकटे हमने सोधे किये हैं। दूनकी न हाँकना, वर्ना सब कस-बल निकाल दिये जायेंगे। मगर वह जो किसीने कहा है कि गीदड़की मौत आती है, तो गाँवकी तरफ़ भागता है। इसकी भी शामतने धक्का दिया और हमसे उलझ गया।

बस साहब, जितने हॉकर थे, मकानपर बुलवा लिये और जो जितने अख़बार रोज़ाना बेचता था, उसी हिसाबसे उसको मज़दूरी एक माहकी पेशगी देकर दफ़्तर जाना बन्द करा दिया। एक-दो रोज़ तो चपरासी वग़ैरहसे कुछ काम निकालना चाहा। मगर साहब आख़िर रो पड़े और घर आकर पाँव पकड़ लिये। और गिड़गिड़ाकर बोले, "हुज़ूर, मुझे मालूम न था कि आप ही फ़लाँ हैं, वर्ना मेरी क्या मजाल जो मैं लब-कुशाई करता? मैं भला वह बात कैसे भूल सकता हूँ।" जब राउण्टेबिल कॉन्फ्रेन्सके अवसर-पर पंचम जार्जने बकिंघम पैलिसमें डिनरके वक़्त महात्मा गान्धीसे पूछा था कि आपके यहाँ ऐसा कौन व्यक्ति है, जिसके केवल नामसे तार और पत्र पहुँच सकें, और पता लिखनेकी ज़हमत न उठानी पड़े। तब महात्माजीने सगर्व उत्तर दिया कि, भारतमें मुन्शी सम्पतलाल ही ऐसे व्यक्ति हैं, जिनको पत्र लिखते समय लोग शहर आदि नहीं लिखते। पं० जवाहरलाल नेहरू बैठे थे। उनकी जाकेटका कपड़ा प्रिन्स ऑफ़ वेलसको इतना पसन्द आया कि वे अपने पदके मर्त्तबेको भूलकर कह बैठे कि मि० नेहरू, एक सूटके लिए यह कपड़ा हमारे लिए भी मँगा दें।

पं० नेहरू मुस्कराकर बोले, "साहब, सूटका कपड़ा कहाँसे मँगा दूँ। माताजी कश्मीर गयीं तो मुझे ही ब-मुश्किल एक वास्केटका मिला है। माताजी कश्मीर गयीं तो

उन्हें यह कपड़ा बेहद पसन्द आया। पूरा थान खरीद लायीं और सबका-सब मुन्शी सम्पतलालको दे रही थीं और कह रही थीं कि मुझे जवाहरसे भी वह बेटा ज़्यादा प्यारा है। मगर मेरे भूख-हड़तालकी धमकी देनेपर किसी तरह एक वास्कटका कपड़ा देनेपर राज़ी हुईं।"

बातका रुख खत्म-सा हुआ समझ, मैंने साहस बटोरकर कहा, "मुन्शी-जी, अब मुझे इजाज़त दीजिए, घरकी हालत आज दिगर-गूँ-सी है।" मगर मुन्शीजी कब पिण्ड छोड़नेवाले थे। लपककर हाथ थाम लिया, और थैलेमें-से दस बाँसुरी निकालकर बोले, "तुम बाल-बच्चोंवाले हो, आज तुम्हें वह नुस्खा बताता हूँ कि मुहल्ले-भरके बालक तुम्हारे बच्चोंको तंग करनेके बजाय सदैव प्यार और आदरसे पेश आयें।"

मैं हैरान कि मामूली काठकी बाँसुरियोंसे इन्होंने यह फ़न कैसे ईजाद कर लिया, जिसकी तलाशमें हर बाल-बच्चेवाले रहते हैं।

बोले, "घरमें एक खोटा रुपया पड़ा हुआ था। आज जो उसपर अचानक नज़र पड़ी तो एकाएक तरकीब सूझ आयी। वह जो चुन्धा-सा बाँसुरी बेचता फिरता है न? उससे इकट्ठी उस रुपयेकी दस बाँसुरी ले लीं। अब इन्हें मुहल्लेके ऐसे शैतान लड़कोंको बाँट दूँगा जो हमारे बच्चोंको तंग करते रहते हैं। मुझे देखते ही बच्चे हर्षोन्मत्त होकर शोर मचाने लगते हैं, 'चाचा आये, चाचा आये।' यह मेरा कई बारका अनुभूत नुस्खा है।" फिर बोले, "तुम्हें देर तो हो रही है, परन्तु एक ताज़ा करिश्मा सुनते जाओ। आज हमारे मशहूर मुक़दमेकी तारीख थी। अदालतने जो आगेकी तारीख देनी चाही, वह हमें सूट नहीं करती थी। हम और तारीख चाहते थे। मगर विरोधी पक्षका वकील नहीं चाहता था कि हमारी इच्छानुसार तारीख पड़े। इतनेमें ही अदालत लंचके लिए उठ गयी। मुझे एक चाल सूझी। मैंने अपने एक परिचित व्यक्तिसे यूँ ही झूठ-मूठ बातें इस तरह करनी शुरू कर दीं कि वह वकील भी सुन ले। मैंने अपने उस आदमीका कन्धा झिझोड़कर कहा, "कहो भाई साहब, अपनी स्टेटकी पैरवीके

लिए कौन-सा वकील किया है ? ना भाई, हमारेवाला वकील हरगिज न करना, सारी स्टेट हाथसे निकल जायेगी। वकील करना है तो हमारे विरोधी वकीलको करो। आजकल उसीका बोलबाला है। हमें नाकों चने चबा रखे हैं।"

मैं बात करता हुआ उसे अदालतसे बाहर ले गया कि कहीं गावदी बीचमें बोलकर भाण्डा न फोड़ दे। लंचके थोड़ी देर बाद अपने वकीलसे मालूम हुआ कि तारीख हमारी इच्छानुसार पड़ गयी है। अब जो घर जानेके लिए तांगेमें बैठता हूँ तो विरोधी वकील पतलून सँभाले, लपकते हुए मेरे पास आकर बोले, "कहिए मुन्शीजी, आप किनसे कौन-सी स्टेटके बारेमें बातें कर रहे थे ?" मैंने तांगेवालेको हाँकनेका इशारा करते हुए उनसे कहा, "वह हमारा नाई था। मालूम हुआ कि उसका जजसे बहुत मेलजोल है, इसलिए तारीख बदलवानेको बुलवा लिया था।" हज़रत बहुत सकपकाये।

और हज़रत आपने वह वाक़िया सुना या नहीं ? हमारे हमज़ुल्फ़के लड़केका रिश्ता अम्बाले निश्चित हुआ था। साली साहिबा हमसे किसी बातपर विफर गयीं। हमने कहा, चलो लगते हाथ इन्हें भी सबक़ दिया जाये। बारातकी तारीखसे सात रोज़ पहले बेटीवालेको साढ़ू साहबकी तरफ़से तीन पैसेका कार्ड लिख दिया कि बारात ट्रेनसे न आकर पांच सौ बेसूँड़के हाथियोंपर आयेगी, रातब-दानेका इन्तज़ाम कर लें। खत पढ़ते ही बेटीवालेने सिर पीट लिया। उनके घर पहुँचकर वाही-तबाही बकने लगा। दोनों समधियोंमें थोड़ी देरको वह बम-चख मची कि लुत्फ़ आ गया।

और आपके वे नेताजी एक ही झटकेमें ऐसे मुँहके बल गिरे कि दोबारा उठना नसीब न हुआ। मैंने उनसे कहा, "हजरत, हमारे आदमीके शराब लेते वक़्त नज़रें चुरा लिया कीजिए। हमारेपर यह आपका पिकेटिङ् उचित नहीं। मगर वह तो एक ही लाठीसे सबको हांकना चाहते थे। हमें इतनी बरदाश्त कहाँ ? गिरफ़्तारियोंका ज़माना था ही, एक अन्य

नेताके गिरफ़्तार होते ही हमने अपने साथीसे इस तरह फुस-फुसाकर बातें कीं, कि पिकेटिङ् करनेवाले स्वयंसेवकोंने सुन ली, और वह उसी रातमें सी० आई० डी० मशहूर हो गये।"

मुन्शीजीकी बातोंकी ट्रेन किसी भी क़ौमा, फुलिस्टाप, आदि स्टेशनोंपर न ठहरकर अविराम गतिसे बढ़ी जा रही थी और मेरी स्थिति उस मुसाफ़िर-जैसी थी कि जिसे बैठनेको तो ट्रेनमें जगह न मिली हो, और श्रीमतीजीने बच्चा भी गोदमें थमा दिया हो। न जाने कितनी बार जम्हाइयाँ आयीं, न जाने कितनी बार टाँगोंपर-टाँग रखके खड़ा होना पड़ा। मगर वहाँ हमारी तरफ़ देखता कौन था? बातमें-से बातें निकलती जा रही थीं। इतनेमें ही उनका नौकर दौड़ता हुआ आकर बोला, "आपकी पालतू बिल्लीने पीतलके कलशेमें सिर फँसा लिया है। जल्दी चलिए वर्ना मर जायेगी।" तब कहीं हमें निजात मिली[1]।

२४ अगस्त १९५५ ई०

१. अफ़सोस कि उनका गतवर्ष स्वर्गवास हो गया। पुस्तक मुद्रित होनेपर जब उन्होंने यह अंश पढ़ा तो खिल उठे और दिल्लीसे मुझे परिहास-भरा पत्र लिखा कि तुमने मेरा नाम बदल दिया है और कई आवश्यक कारनामोंका उल्लेख नहीं किया है। अतः मैं तुमपर दावा करनेवाला हूँ।

क्या ही ज़िन्दा दिल इन्सान थे, जब उनके कारनामे सुनाता था तो इष्ट-मित्र लहालोट हो जाते थे और आज जब मैंने तृतीय संस्करणके लिए स्वयं उक्त कहानी-पर नज़र डाली तो दिल घुटकर रह गया।

—ए० पी० गोयलीय २३-२-६३

हमारे अन्ध-विश्वास

"क्यों साहब, आप तो पानी पीने जा रहे थे रुक क्यों गये ?"

"अजी, बिल्ली रास्ता काट गयी।"

"क्यों साहब, आपके मुक़दमेका क्या हुआ ?"

"होता क्या ख़ारिज हो गया, घरसे चलते वक़्त जो काणा मिल गया था, मेरा तो तभी माथा ठनका था।"

"आपके पेटमें दर्द है तो जाकर दवा क्यों नहीं ले आते ?"

"कैसे लाऊँ ? नाकका स्वर ठीक नहीं चल रहा है।"

"क्यों साहब, आपके घरमें आग कैसे लग गयी ?"

"आज उठते ही एक नकटेका मुँह देखा था।"

"क्यों जी, सुना है आपके लड़केने आपकी इन्तज़ारमें तड़प-तड़पकर जान दे दी, पर आप तार आनेपर भी न गये।"

"अरे साहब, जाता कैसे, उस रोज़ उधर दिशाशूल जो था।"

"आपकी पत्नीको हैज़ा कैसे हो गया ?"

"भोजन करते हुए छींक हुई थी।"

"शत्रुओंने देशपर आक्रमण कर दिया है, आप तलवार क्यों नहीं उठाते ?"

"ज्योतिषी कहते हैं अभी मुहूर्त्त ठीक नहीं है।"

"यह आपके मकानमें इतना हिस्सा अलग क्यों है ?"

"ये सैय्यदका थान है !"

"हिन्दुओंके मकानमें ही सैय्यदके थान होते हैं, कभी मुसलमानोंके घर सैय्यदका थान देखनेमें न आया !"

"बीमार बच्चेको कहाँ ले गये थे ?"

"मस्जिदमें मुल्लाजीसे फूँक लगवाने ।"

"क्यों आपके दई-देवता क्या दरियामें बह गये ?"

"आपका वह जवान लड़का कहाँ गया ?"

"मैंने उसे घरसे निकाल दिया है ।"

"क्यों ?"

"पण्डितजीने मेरे लिए भारी बताया था ।"

"आपने अपनी पुत्रवधू पीहर क्यों छोड़ रखी है ?"

"डकौत कहता है उसके औलाद नहीं होगी ।"

"औलाद तो तभी होगी जब आप उसे बुलायेंगे !"

"डकौतकी बात झूठ कैसे मान ली जाये ?"

"आपने अपने बच्चेके बाल गरमीमें इस क़दर क्यों बढ़ा रखे हैं ?"

"हमारे बच्चोंके बाल गुड़गाँवेंमें उतरते हैं । कलकत्तेसे जाने-आनेमें काफ़ी खर्च पड़ता है, पैसेकी सुविधा न होनेसे बाल उतरवाने नहीं जाना होता ।"

"आपके कानमें इस क़दर दर्द है, तब नारायण तेल क्यों नहीं डाल लेते ?"

"आज शनिवार है, शनिवारको तेलका दान दिया जाता है, हम स्वयं इस्तेमाल नहीं करते ।"

"आप हलुएपर ही हाथ साफ़ कर रहे हैं, रोटी-दालके भी तो हाथ लगाइए !"

"आज इतवार है, हम नमक नहीं खाते !"

"आप इन दिनों उदास क्यों नज़र आते हैं ?"

"ज्योतिषियोंने बताया है कि हमारी तीन माहमें मृत्यु हो जायेगी ।"

"पहले होती या न होती, पर यही वहम रहा तो अब अवश्य हो जायेगी !"

"घरका मकान छोड़कर किरायेके मकानमें कैसे रहने लगे ?"

"वह पण्डितजीने हमारे लिए मनहूस बताया है ।"

"तब वह मकान आपने पण्डितजीको क्यों नहीं दे दिया ?"

"यह आप शादीके अवसरपर कुम्हारका चाक और कूड़ेका ढेर क्यों पूजते हैं ? दुलहा-दुलहिनके हाथमें छड़ी देकर उन्हें एक-दूसरेको पीटनेके लिए क्यों कहते हैं ?"

"कारण तो मालूम नहीं, पर हमारे यहाँ यह रिवाज़ सदासे होते आये हैं !"

"जो रिवाज़ ग़लत हैं उन्हें छोड़ क्यों नहीं देते ?"

"अजी, औरतें वहम करती हैं ।"

"तुम्हारे गांवमें हैज़ा फैला हुआ है और तुम कुत्तोंको दूध पिला रहे हो । कोई बाहरसे अच्छा-सा चिकित्सक क्यों नहीं बुला लेते ?"

"अजी, चिकित्सक क्या करेगा, यह सब हमारे पापोंका फल है । पापोंको कम करनेके लिए ही कुत्तोंको दूध पिला रहा हूँ ।"

"पापोंको कम करनेके बजाय उन्हें छोड़ ही क्यों नहीं देते ?"

"भला, ऐसा भी कहीं होता है ।"

"वर्षा नहीं होती तो आप घंण्टे-घड़ियाल बजाकर शोर क्यों मचा रहे हैं ?"

"शोर नहीं मचा रहे हैं,परमात्मा तक अपनी अरदास पहुँचा रहे हैं !"

"परमात्मा क्या बहरा है, जो शोर मचानेसे हीं सुनेगा वैसे नहीं ?"

"बहरा न होता तो यह नौबत ही क्यों आती !"

"कहिए आप अपने पुत्रकी शादी कब कर रहे हैं ?"

"जब सूझ जाये !"

"वह कब सूझेगी ?"

"जब ज्योतिषी सुझायें !"

"क्या तुम्हारे आँखें नहीं हैं ?"

"अजी आप समझते नहीं ! पण्डितजी पत्रा देखकर जिस तिथिका विवाह मंगलीक बतायेंगे, उसी तिथिको विवाह-सूझना कहते हैं !"

"क्यों जी, यह ज्योतिषी भी तो अपनी लड़कियोंका विवाह लग्न-मुहूर्त्त शुभ देखकर, जन्मपत्र मिलाकर करते होंगे ?"

"जी !"

"तब उनकी पुत्रियाँ विधवा क्यों हो जाती हैं?"

"भगवान् जाने !"

मई १९४० ई०

नानीके अनुभव

"नानी, ये पतंगे दीपकपर आकर क्यों झुलसते हैं ?"

"बेटा, क्षुद्र जो महान्‌की समीपता चाहते हैं, उनका यही परिणाम होता है। प्रकाशका दूरसे लाभ लेना चाहिए, समीप जानेपर विनाश निश्चित है।"

"यह फूलोंपर ओस क्यों पड़ती है नानी ?"

"यह ओस नहीं है बेटे, आकाशके आँसू हैं।"

"आकाश भी रोता है नानी ?"

"हाँ बेटे, जब वह किसीको मृत्यु-मुखमें जाते देखता है, तब रोता है।"

"तब क्या नानी, यह फूल मृत्यु-मुखमें जा रहे हैं ?"

"हाँ बेटे, यह फूल अपने सुखमें फूले नहीं समा रहे हैं। यह इतने तन्मय होकर हँस रहे हैं, कि इन्हें यह भान भी नहीं होता कि कल जो फूल हँसे थे, उनकी क्या गति हुई। उनकी इसी मूर्खतापर आकाश रात-भर रोता रहा है, हवा सिर पीटती रही है।"

"फिर भी इन्हें समझ क्यों नहीं आती नानी ?"

"विनाशके समय बुद्धि भी विनाशमयी हो जाती है, बेटे,"

"क्या हँसना भी मूर्खता है नानी ?"

"नहीं बेटे, हँसना मूर्खता नहीं, वह स्वस्थ जीवनके लिए अत्यन्त आवश्यक रसायन है। लेकिन इतने ज़ोरसे हँसना भी ठीक नहीं कि तमाशा देखने दुःख भी दौड़कर चला आये। वह ठीक सुखके पड़ोसमें रहता है।"

"नानी, वर्षाऋतुमें कोयलकी कूक सुनाई नहीं देती।"

"हाँ बेटे, जब मेंढक बोलने लगे तो कोयलने मौन रहना ही श्रेयस्कर समझा।"

"क्यों नानी ?"

"जब मूर्ख बोलते हैं, तब गुणियोंका चुप रहना ही उचित होता है।"

"तब नानी, यह पपोहा बरसातमें क्यों बोलता है ?"

"बोलता नहीं बेटे, दादुरोंकी बढ़ोतरीपर निःश्वास खींचता है। देशमें मूर्खों-उपद्रवियोंकी संख्या बढ़ते देखकर देशभक्त इसी तरह निःश्वास लेकर तड़पते रहते हैं।"

"भगवती सीताको राक्षसोंने बहुत क्लेश पहुँचाये थे न नानी ?"

"नहीं बेटे, सीताको राक्षसोंने नहीं, हम आर्योंने ही दारुण दुःख दिये थे।"

"वह कैसे नानी ?"

"हम आर्योंने ही नारी (शूर्पणखा) पर हाथ उठाया। प्रतिशोधस्वरूप राक्षसराजने सीता-हरण किया, किन्तु सीताको सीता ही रखा, कहीं भी कालिख नहीं लगने दी, परन्तु हम आर्योंके शंकालु हृदय सीताको अग्निमें तपाने, वनवास करानेके बाद भी शंकित ही बने रहे। सीताकी दारुण वेदनासे पृथ्वीका हृदय विदीर्ण हो उठा, पर हम वज्र-हृदय न पसीजे।"

१९ सितम्बर १९५५ ई०

समुद्र खारा क्यों ?

अपने परिवारके साथ किशोर बम्बई गया तो उसने अपने जीवनमें पहली बार समुद्र देखा। प्यास बुझानेके लिए ज्यों ही उसने अंजुली भर-कर पानी मुँहमें लिया कि मारे कड़वाहटके वह गलेसे नीचे न उतार सका और अक-थू-अक-थू करने लगा। उसके किशोर-सुलभ कौतुकपर सभी हँसने लगे। वह झेंपकर बोला,

"पिताजी, आप तो कहते थे कि दुनियाके सभी दरिया समुद्रमें जा मिलते हैं ? फिर समुद्रका पानी इतना खारा क्यों है ? जब कि हर दरिया-का पानी मीठा होता है।"

"बेटे, यह समुद्र लेता ही लेता है, देता एक बूँद भी नहीं। जो केवल संचय करता है, उसमें कड़वाहटके अतिरिक्त और होगा ही क्या ?"

"और यह इतना उद्विग्न क्यों हो रहा है ?"

"जीवन-भर लिया ही लिया, दिया कुछ भी नहीं, इसी आत्मग्लानिके कारण।"

"आप तो कहते थे कि समुद्रका पानी सूर्य सोखता रहता है। वही पानी बादल बनकर बरसता है। फिर आप यह कैसे कहते हैं, कि देता एक बूँद भी नहीं ?"

"छीने जाने और देनेमें पृथ्वी-आकाशका अन्तर है बेटे, तुम्हारे पैसे कोई छीन ले तो वह देना नहीं हुआ। देनेकी भावनासे दिया गया ही देना होता है।"

१८ सितम्बर १९५५ ई०

समुद्रकी तृष्णा

सिन्धु : "ओ रे क्षुद्र, अधिक न उफ़न, मुझमें एकाकार होकर तुझे भी महान् बनना है तो चुपचाप मुझमें समा।"

दरिया : सिन्धुराज, मैं तो चुपचाप ही अपने अस्तित्वको तुम्हें सौंप रहा हूँ। मेरी क्या बिसात है कि मैं उफ़नता हुआ आऊँ। यह उफ़ान और गरजन तो आपको ही मुबारक। संसार-भरका पेय उदर-गह्वर किये जा रहे हैं, फिर भी पिपासा शान्त नहीं हो पा रही है। तृष्णावश दिन-रात बेकल हुए हाय-हाय, फाँय-फाँय करते हुए सिर पटक रहे हैं।"

१८ सितम्बर १९५५ ई०

लातोंके भूत

नानू भाईकी साध थी कि वह अपना समस्त जीवन ग्रामोद्योगके कार्यों-में खपा देगा। एक तो उसे शहरी वातावरणमें पढ़ते-पढ़ते शहरोंसे अरुचि हो गयी थी। दूसरे उसकी शिक्षा-दीक्षा भी उसी तरहकी हुई थी। अतः शिक्षा समाप्त करके जब वह अपने गाँव पहुँचा तो खेती-बारीके कामोंमें पिताका हाथ बटाने लगा।

एक रोज़ पिताके आदेशसे नानू भाई खेतोंकी रखवालीको गया तो वहाँ एक गधा स्वच्छन्द विचर रहा था। खेतको खा भी रहा था और रौंद भी रहा था। नानू भाईने गधेका यह आचरण देखा तो हाथ जोड़कर बोला, "हे वैसाखनन्दन, आपने किसकी आज्ञासे हमारे खेतमें पदार्पण किया है ? आपके पोषणके लिए हमारे खेतोंके बाहर काफ़ी खाद्य मौजूद है, फिर भी आप हमारे खेतमें विचरण कर रहे हैं ? यह आपकी शोषण-नीति उचित नहीं। 'जो कमायेगा, वही खायेगा' क्या आपने यह सिद्धान्त श्रवण नहीं किया ? पर-क्षेत्रोंपर अधिकार-लिप्साका सामन्ती-युग अब समाप्त हो रहा है। अतः आप कृपा करके अविलम्ब हमारे खेतका परित्याग कीजिए। यदि आपने मेरे अनुनय-विनयपर ध्यान नहीं दिया तो आपके आगे लेटकर मुझे सत्याग्रह करना पड़ेगा, यदि फिर भी न मानें तो भूख-हड़तालका अमोघ अस्त्र मुझे सँभालना होगा। इससे आपका अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रोंमें बहुत अपयश होगा। अतः मेरी करबद्ध प्रार्थना है, कि आप वह स्थिति आनेसे पूर्व ही हमारे क्षेत्रको मुक्त कर दें। इस प्रकार हमारे-आपके मैत्री सम्बन्ध भी अक्षुण्ण बने रहेंगे और हमारा सहयोग भी सदैव साथ रहेगा।"

नानू भाई सुबहसे शाम तक करबद्ध प्रार्थना करता रहा, परन्तु गर्दभ-

राजका हृदय न पसीजा। वह यथाशीघ्र सूर्यास्तसे पूर्व खेतको पेटमें रख लेना चाहता था। शामको नानू भाईका पिता खेतपर आया। उसने डण्डा मारकर गधेको खेतसे बाहर निकाल दिया तो नानू भाई बोला,

"पिताजी, आपने यह घातक प्रयोग क्यों किया? अब तो यह बर्बर प्रथा समस्त राष्ट्रोंसे उठती जा रही है। शत्रुका हृदय परिवर्तन करनेका जो नवीन अमोघ उपाय ईजाद हुआ है, मैं उसीका प्रयोग कर रहा था।"

पिता मुस्कराकर बोला, "जिनके हृदय हैं, उन्हींका तो हृदय परिवर्त्तित किया जा सकता है, बेटे, जिनके हृदय ही नहीं, उन गधोंको समझानेके लिए यही अचूक उपाय है, जिसका मैंने उपयोग किया है। लातोंके भूत बातोंसे नहीं समझते।"

१९ सितम्बर १९५५ ई०

हाथीकी आँखें छोटी क्यों ?

यह उस युगकी बात है, जब मनुष्योंको संचयका चस्का लग चुका था और वह हर उपयोगी वस्तुको हस्तगत करने एवं अपने अधीन बनानेकी धुनमें लीन रहने लगा था। वनमें लकड़ियाँ काटते हुए एक दिन उसने सिंह और हाथीका युद्ध देखा। आकाशभेदी दहाड़ और चिंघाड़ सुनकर वह काँप उठा और भयके मारे पेड़पर चढ़ गया।

कभी सिंह उछलकर हाथीके मस्तकको विदीर्ण करनेका प्रयास करता तो कभी हाथी सिंहको सूँड़में लपेटकर पाँवसे कुचलना चाहता। सिंहकी स्फूर्ति एवं दाव-घात देखकर मनुष्यका हृदय बैठा जाता था तो हाथीके घातक प्रहारोंको देखकर मस्तिष्क शून्य हुआ जा रहा था। फिर भी मनुष्यने यह अनुमान कर लिया कि सिंह उसके लिए तीन कालमें भी उपयोगी न होकर भयानक बना रहेगा और हाथी प्रयत्न करनेसे उपयोगी बनाया जा सकेगा।

द्वन्द्वयुद्धमें अब सिंह सवाया पड़ रहा था, हाथीकी चिंघाड़ कराहनाका रूप लेने लगी थी और यह स्पष्ट दीखने लगा था कि अब धराशायी होनेमें हाथी विलम्ब नहीं करेगा। तभी मनुष्यने पेड़पर-से तीन-चार तीर ऐसे मारे कि सिंह लोट-पोट हो गया।

ऐसे घोर संकटके समय सहायता करनेवाले मनुष्यको हाथीने मस्तक नवाकर प्रणाम किया। घुटने टेककर कृतज्ञता प्रकट की। सूँड़ उठाकर आशीर्वाद दिया, चिंघाड़कर जय-जयकार की और आँखों-आँखोंमें यह आभास भी दिया कि अकारण निस्वार्थी बन्धुका उपकार कभी विस्मरण

नहीं किया जा सकेगा, प्राण देकर भी सेवा की जा सकेगी।

हाथीके इन कृतज्ञता-सूचक भावोंसे मनुष्य बहुत प्रसन्न हुआ। मनुष्य और पशुओंकी वाणीमें उन दिनों विशेष अन्तर नहीं था। उन दिनों भाषा न पुस्तकोंमें सीमित थी, न देश, प्रान्त, जातियोंके बाड़ेमें बँधी थी और न व्याकरणके चक्करमें फँसी थी। जिस भाषामें गूँगे और बालक अपने मनोभावोंको व्यक्त करते हैं और दूसरेके भावोंको समझते हैं, उसी भाषामें सब काम निकलते थे।

कुछ इसी तरहकी सांकेतिक भाषामें मनुष्य और हाथीका वार्तालाप हुआ। मनुष्य पेड़से उतरकर बोला, "गजराज, आजकी घटनासे हम इस निष्कर्षपर पहुँचे कि सिंहसे बचनेके लिए हम दोनोंका सम्मिलन अत्यन्त आवश्यक है। यदि तुम न होते तो सिंह मुझे खा जाता और मैं न होता तो तुम्हें चबा जाता। हम दोनोंके मिलनने ही एक-दूसरेकी रक्षा भी की और सिंहका वध भी किया।"

गजराजने सम्मति-सूचक सिर हिलाया।

मनुष्यने फिर गलेमें तनिक माधुर्य भरकर कहा, "क्या ही अच्छा हो हम-तुम मैत्री-सूत्रमें बँधकर एक साथ रहें। परस्पर सुख-दुःखमें भागीदार रहें।"

हाथीने नम्रतापूर्वक अपना आशय प्रकट किया, "मुझे आपकी मित्रता-पर गर्व होता, किन्तु मनुष्य और पशुकी मित्रता क्या सम्भव है? कहीं यह मित्रता दासतामें परिणत न हो जाये, मुझे यही आशंका है।"

मनुष्य दाँतें निपोरकर बोला, "गजराज, मित्रतामें दासताकी आशा न करो। मुक्त हृदयसे हम और तुम आजसे मित्रता-पाशमें बँध रहे हैं।"

गजराज और मानव परस्पर मित्र हो गये। मित्रताके सम्बन्ध उत्त-रोत्तर बढ़ते गये। परिणामस्वरूप गजराज मानवके साथ ही रहने-खाने लगा। अवसर देखकर एक रोज़ मनुष्य बोला, "गजराज, कहते हुए संकोच होता है, किन्तु न कहूँगा तो दोनोंके विपत्तिमें पड़नेकी सम्भावना है। चारों

ओर हिंसक पशुओंका जाल-सा बिछा हुआ है। यही सोच-सोचकर मरा जाता हूँ कि कहीं हम-दोनोंमें-से किसीको अकेला पाकर सिंह आक्रमण न कर बैठे ? अतः एक परामर्श माँगता हूँ यदि आप अन्यथा न समझें तो ?"

हाथी सहज-स्वभाव बोला, "सखे, निस्संकोच मनोभाव व्यक्त कीजिए। मित्रसे छिपाव क्या ? प्राण रहते आपकी बात मानूँगा।"

मनुष्य गद्गद होकर बोला, "भद्र, आपसे मुझे यही आशा थी। मेरी अभिलाषा है कि हम एक प्राण दो शरीर न रहकर एक प्राण और एक शरीर हो जायें।"

मनुष्यके उक्त विचार सुनकर हाथीका रोम-रोम पुलक उठा। वह विश्वास-भरे स्वरमें बोला,

"साधु-साधु, परन्तु मित्र, यह शुभ संकल्प किस प्रकार कार्यान्वित हो सकेगा ?"

मनुष्य हाथीको थपथपाते हुए बोला, "वह इस तरह कि कभी तुम मेरे ऊपर बैठकर चलो और कभी मैं तुमपर बैठकर चलूँ। इस तरह हम-तुम एक शरीर और एक प्राण हो सकेंगे। फिर अकेला पाकर हिंसक पशुओं-को आक्रमण करनेका साहस कभी न होगा।"

मनुष्यका प्रस्ताव सुना तो हँसते-हँसते गजराजके पेटमें बल पड़ गये। ब-मुश्किल हँसी रोककर बोला, "शुभेच्छु, तुम्हें मेरी रक्षाकी इतनी घोर चिन्ता है कि मुझे अपने ऊपर बिठानेकी भी अभिलाषा रखते हो ? स्नेह-मोहके कारण यह भी ध्यान नहीं रहा कि हाथीका वज़न उठाना मनुष्यके लिए असम्भव है। हाँ, तुम्हें अपने ऊपर बिठाकर चलनेमें मैं अपना अहोभाग्य समझूँगा ?"

शनैः-शनैः गजराजपर अम्बारी भी कसी जाने लगी, फ़ीलवान भी बैठने लगा। पाँवमें ज़ंजीर भी सुशोभित होने लगी, और उत्तरोत्तर मानव और हाथीकी मित्रता दृढ़से-दृढ़तर होती गयी; परन्तु न जाने क्यों कुत्ते भूँक-भूँककर हाथीको समझाते रहते हैं, कि यह मित्रता नहीं, दासता है,

परन्तु हाथी अभीतक वास्तविक स्थितिका निर्णय नहीं कर पाया है। इसी चिन्तनमें उसकी आँखें छोटी होती जा रही हैं।

२५ सितम्बर १९५५ ई०

कोयल और काग

एक अमुआके पेड़पर कागा-कागी बैठे हुए दुःख-सुखकी बातें कर रहे थे कि एक कोयल-दम्पति भी उसी पेड़पर आकर बैठ गये और कागा-कागी-को देखकर हँसने लगे। कागाने उस ओर मुड़कर देखा तो कागी बोली, "प्रियतम, इन कृतघ्नोंकी हँसीका क्या महत्त्व। क्षण-भरमें हँसते हैं और क्षण-भरमें रोते हुए हमारे घोंसलोंमें बच्चे प्रसव करनेको बाध्य होते हैं। धीर-वीर ओछोंको नज़रन्दाज़ कर दिया करते हैं।"

किन्तु कागाको उनका हास्य इतना खला कि वह अपनी जीवन-सहचरी-की बात न मानकर तेवर बदलकर बोला, "तुम्हें हँसना भी नहीं आता ?"

कागाके तेवर देखकर कोयल-दम्पति सहम-से गये। फिर भी झेंप मिटानेकी ग़रज़से बोले, "आपका स्वर बहुत ही मधुर है, क्या कोई गाना सुनानेकी कृपा करेंगे ?"

कोयलका व्यंग्य सुनकर कागाने जवाब दिया,

"गाना सीखनेका हमें अवकाश कहाँ ? यह तो आपको ही मुबारक ! हम तो आपको पाल-पोसकर बड़ा करनेकी कला सीखे हैं।"

कोयल-दम्पति खिसर-खिसर हँसने लगे तो कागीने कहा, "देव, यह लोग मुँहके मीठे और पेटके काले होते हैं। ऐसे कृतघ्नोंकी परछाई भी अशुभ होती है। चलो किसी और पेड़पर बैठा जाये।"

२६ सितम्बर १९५५ ई०

आज़ादीकी तड़प

एक पेड़पर बहुत-से तोते बैठे हुए कलरव कर रहे थे कि उन्हींके पास एक और तोता कुछ अलग-अलग-सा बैठा उनको पुलकित भावसे देख रहा था। इस नये साथीकी उपस्थिति तोतोंके नेतासे छिपी न रह सकी। वह पास आकर आत्मीयतासे बोला,

"अतिथि, हम आपका स्वागत करते हैं, हमारा सौभाग्य है कि आप यहां पधारे। हमें अपना बन्धु समझकर निस्संकोच हमारे साथ आहार-विहार करें।"

"शुक्रिया, मुझे अपनी क़ौमसे यही तवक़्क़ो थी।"

"किस देशसे आगमन हुआ प्यारे ?"

"बुज़ुर्गवार, मैं इसी दरख़्तपर पैदा हुआ था।"

"आश्चर्य, इससे पूर्व दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ बन्धु !"

"होता कहांसे साहब ? मैं बचपनसे ही क़ैद कर लिया गया था।"

"क़ैद ! यानी बन्दी ! तुम्हें किसने बन्दी कर लिया था भाई ? उन्मुक्त आकाशमें विचरण करनेवालेको किस अभागेने बन्दी किया था भद्र ?"

"हज़रते-इन्साननें मुझे क़ैद किया था, जनाबे आली।"

"हज़रते-इन्साननें ? वह क्यों ? देखने-सुननेमें तो वह बहुत भद्र और दयालु मालूम होता है, भाई !"

"जी, उसकी यही तो ख़ूबी है, हो जायें ख़ून लाखों, लेकिन लहू न निकले।"

"मैं आपका भाव नहीं समझा। आप सजातीय होते हुए भी कुछ अन्य प्रकारसे वार्तालाप कर रहे हैं। कृपा करके सरल भाषामें आपबीती सुनाइए।"

"मुहतरमी, मेरी दास्ताने-ग़म सुनिएगा तो सिर धुनिएगा। मैं माँ-बापके सायेमें उडना सीख ही रहा था कि हज़रते-इन्सानने मुझे फाँसकर एक ख़ूबसूरत पिंजरेमें बन्द कर दिया। मैं चीख़ता रहा, माँ-बाप सिर पीटते रहे, मगर ज़ालिमको रहम न आया।"

"उसने यह कुकर्म क्यों किया ?"

"इसलिए कि हज़रते-इन्सानको यह यक़ीन है, कि वह रहीम या रामका नाम जितना ज़्यादा लेगा-सुनेगा उतना ही सवाब मिलेगा ?"

"इस विश्वासमें तुम्हारा क्या उपयोग ?"

"यही कि ख़ुद नाम लेनेकी जहमत न उठाकर हमें सिखा-पढ़ाकर इसके लिए मजबूर किया जाता है। जो रामके भगत हैं, वे राम-राम रट-वाते हैं। अल्लाहवाले अल्लाहू-अल्लाहू कहलवाते हैं। ख़ुद मज़े करते हैं और हमें राम-राम, अल्लाहू पुकारते देख ख़ुश होते हैं, सवाब कमाते हैं। न कहें तो 'जंगली', 'नया रंगरूट', 'बुड्ढा तोता क्या क़ुरान पढ़ेगा'— जैसे तीखे जुमले सुनने पड़ते हैं। कहनेपर फल, मेवे, धुली दाल वग़ैरह अच्छे-अच्छे माल खानेको मिलते हैं। सभी प्यारो-मुहब्बतसे पेश आते हैं।"

"क्या इन्सानके राम और अल्लाह दो अलग-अलग ईश्वर हैं ?"

"दो ? अजी हज़रत सैकड़ों ! हिन्दू, जैन, सिक्ख, ईसाई, पारसी, यहूदी, बुद्ध, मुसलमान वग़ैरह ला-तादाद फ़िरके इन्सानोंमें हैं। हर फ़िरकेका जुदा ख़ुदा है, और तारीफ़ यह कि अपने-अपने ख़ुदाके नामपर इस तरह क़त्ले-आम करते हैं कि दरिन्दे और वहशी देख पायें तो सकतेमें आ जायें।"

"बधाई मित्र, तुम इस नरकसे ख़ूब निकले।"

"हाँ, कुछ क़िस्मत ही अच्छी थी, वर्ना हज़रते-इन्सानके फन्देसे कौन निकल पाया है ?"

"स्वतन्त्र होनेकी भावना तुममें कैसे जगी ?"

"मैं जिन नवाब साहबके यहाँ क़ैद था, उनके यहाँ मुशाअ़रे अक्सर हुआ करते थे। पहले तो मेरी समझमें कुछ न आता था। मगर धीरे-धीरे मैं भी समझने लगा।"

"यह मुशाअ़रा क्या होता है भाई ?"

"कुछ खास क़िस्मके लोग एक जगह इकट्ठे होते हैं, जिस आदमीके आगे रोशनी रख दी जाती है, वह कुछ गाकर कहता है, जिसे सुनकर बाक़ी लोग वाह-वा, सुब्हान-अल्लाह, खूब-खूबका शोर मचाते हैं और कहनेवाला माथेपर हाथ ले जाकर 'आदाब अर्ज़-आदाब अर्ज़' करता रहता है ? हाँ, तो एक रोज़ इसी मुशाअ़रेमें सर 'इक़बाल' भी आये। उनकी बहुत ज़ोर-शोरसे लोगोंने आव-भगत की। क़दमोंमें लोग आँखें बिछाये दे रहे थे। सबसे आखिरमें जब वे पढ़नेको बैठे तो लोग बा-अदब सँभलकर बैठ गये। उनका कलाम सुनते-सुनते कुछ सिर धुनने लगे, कुछ वज्दमें आ गये, कुछ बेसुध होने लगे, कुछ ज़ार-ज़ार रोने लगे। उनका कलाम पूरा तो मैं नहीं समझ पाया, मगर इस शेरने मेरी हालत भी ग़ैर कर दी और मैं पिंजरेमें सिर पीटने लगा।

ऐ तायरे-लाहूती, उस रिज़्क़ से मौत अच्छी।
जिस रिज़्क़ से आती हो, परवाज़ में कोताही॥

"इसका आशय क्या है साथी ?"

"यही कि आस्मानमें उड़नेवाले पंछी, तू कहाँ आ फँसा है। जिस चीज़से आज़ादीमें ख़लल पड़ता हो, वह कितनी ही आरामदेह हो, उससे मौत हज़ार दर्जा बेहतर।"

"भई, बड़े पतेकी बात कही उसने। मगर इस प्रकारकी बात तुम्हारे नवाब साहबने क्यों कहने दी, रोका नहीं ?"

"इक़बालको नवाब रोकता ? इक़बाल तो ख़ुदाके रोके भी न रुकता। मगर यह बात कुछ उसने मुझे सुनाकर नहीं कही थी। यह तो उसका शाइराना कमाल था कि उसने ग़ुलाम-इन्सानको इस तरह ग़ैरत दिलायी।"

"अच्छा, फिर क्या हुआ ?"

"मुशाअ़रा तो इक़बालके कलामपर ख़त्म हो गया। मगर मैं अपनेमें खो गया। क्या इस ज़िन्दगीसे मौत सचमुच बेहतर है। मैं इसी खयालमें ग़र्क़ रहने लगा। न दाना अच्छा लगता था, न पानी, कि एक रोज़ रेडियो-पर इक़बालकी ग़ज़ल गायी जा रही थी,

दिल की आज़ादी शहन्शाही, शिकम सामाने-मौत।
फ़ैसला तेरा तेरे हाथों में है, दिल या शिकम॥

पूरी ग़ज़ल सुनी तो तड़पकर रह गया। पिंजरेसे छुटकारा पानेका ख्वाब देखने लगा। मगर छुटकारेकी कोई तरकीब सूझ नहीं पड़ती थी। मेरी खुशक़िस्मतीसे इन्हीं दिनों नवाब साहबके बड़े साहबज़ादे कॉलेजकी छुट्टियोंमें घर आये। वे इक़बालके सिर्फ़ मद्दाह (प्रशंसक) ही न थे, बल्कि बात-बातमें इक़बालके शेर पेश करते थे। उन्हींसे यह दो मिसरे भी सुने तो मुझे मालूम हुआ कि जैसे मुझे सुनानेको ही कहे गये हैं,

कुछ काम नहीं बनता बेज़ुरअते-रिन्दाना।
... ...

इन्हीं पाबन्दियों में हासिल आज़ादी को तू कर ले॥

रात हुई तो मैं दम साधकर पड़ गया, न कुछ खाया न पीया। मेरी यह हालत सुबह उठकर नवाब साहबने देखी तो बीमार समझकर मेरे मुँहमें गुलाबजल डालनेकी कोशिश की, मगर मैंने एक बूँद भी न ली। दम साधे पड़ा रहा। जब दिन-भर भी मेरी यह हालत देखी तो मुझे मरा हुआ समझकर अपनी कोठीके बगीचेमें मुझको फिकवा दिया और मैं मौक़ा

देखकर यहाँ उड़ आया।"

"भाई, तुमने बहुत साहस और चातुरीसे काम लिया। अगर इसी तरहकी लगन सब पंछियोंमें हो तो उन्हें पिंजरेमें कौन रख सकता है ?"

२ अक्टूबर १९५५ ई०

नींवकी ईंटें

राजभवनके निर्माणका कार्य प्रारम्भ था। एक तरफ़ नींवमें ईंटें जमायी जा रही थीं। दूसरी तरफ़ भवनपर लगनेवाले शिखरको पच्चीकारीसे सजाया जा रहा था। ईंटोंकी यह स्थिति देखकर शिखर सगर्व बोला,

"यह ईंटें भी कितनी तुच्छ हैं ? इतने बड़े भवनमें इनका कहीं भी नामो-निशान दिखाई न देगा। बेचारी मिट्टीसे बनी मिट्टीमें मिला दी जायेंगी। सभी आने-जानेवालोंकी मुझीपर दृष्टि होगी। सूर्य, चन्द्रमा भी मुझे निहारते हुए निकला करेंगे। तारे एकटक मुझे देखा करेंगे।"

ईंटोंको जवाब देनेका अवकाश नहीं था। भवनकी नींवमें सबसे पहले कौन लगे इसी होड़में व्यस्त थीं।

एक रोज भूकम्प आया तो महलका शिखर नींवकी ईंटोंके पास पड़ा हुआ बिलख रहा था। ईंटोंमें-से एकने सान्त्वना-भरे शब्दोंमें पूछा, "तेरी यह दुर्दशा किसने की भाई ?"

"भूकम्पने।"

"भूकम्प क्या होता है भाई ?"

"जब पृथ्वी काँपती है तो भूकम्प होता है बहन,"

"पृथ्वी क्यों काँपती है भाई ?"

पृथ्वीमें आग होती है, जब वह आगसे तप्त हो उठती है तो उसकी तापसे पर्वत फटने लगते हैं और पर्वतोंके धमाकेसे पृथ्वी काँपने लगती है ?"

"पृथ्वीमें आग क्यों होती है, भाई ?"

"सुना है बहन, विश्व-निर्माणमें जो बलि होते हैं, उनके सीनेपर पाँव रखकर जब उन्हींके साथी ऐश्वर्य-रत रहते हुए भी उनका उपहास करते हैं तो कभी-कभी यह उपहास इतना असह्य हो उठता है कि शहीदोंके मुँहसे बरबस निःश्वास निकल पड़ते हैं। यही निःश्वास पृथ्वीको दहकाते रहते हैं और एक दिन भूकम्पके रूपमें प्रस्फुटित होते हैं।"

२ अक्टूबर १९५५ ई०

वाणीका घाव

एक ब्राह्मण बहुत दरिद्र था। भरण-पोषणका कोई उपयुक्त साधन न था। आकाश-वृत्तिसे कबतक निर्वाह होता? महीनेमें आधेसे ज़्यादा निर्जला एकादशी आने लगीं और लाज छिपानेके भी लाले पड़ने लगे तो ब्राह्मणी बोली, "यूँ कबतक पेटके पत्थर बाँधकर रहा जायेगा। अपना तो कुछ नहीं, भूख नहीं सही जायेगी तो कुएँ-तालाबमें जा पड़ेंगे, परन्तु लल्लीका क्या होगा? अठारहकी हो रही है उसके हाथ तो पीले करने ही होंगे।"

ग़रीब ब्राह्मण रोज़गारकी तलाशमें घूमता-घामता एक जंगलसे गुज़रा तो उसे एक सिंह मिला। गृह-जालसे मुक्ति पानेका यह सुयोग देखकर ब्राह्मण आँखें बन्द कर बोला, "हे वनराज, तुम मेरा सहर्ष भक्षण करो।"

वनराजके जीवनमें यह पहला ही अवसर था कि एक प्राणी यूँ राज़ी-ख़ुशी भोजन बननेके लिए तैयार हुआ। वह आश्चर्यचकित हो बोला, "मानव, तुम कौन हो? तुम्हें ऐसा क्या दुःख है जो यूँ मृत्युके मुखमें जानेको उत्सुक हो रहे हो?"

ब्राह्मणके आपबीती सुनानेपर सिंह उसे अपनी माँदमें ले गया और वहाँ पड़े हुए नर-नारियोंके कंकालसे ज़ेवर ले लेनेका संकेत किया। ब्राह्मणने इतना अतुल धन कहाँ देखा था? जितना उठाया जा सका उठा लिया। चलते समय बोला, "परोपकारी बन्धु, अपनी भतीजोकी शादीमें अमुक तिथिको अवश्य आना, तुम्हारी भाभी प्रतीक्षा करेगी।" काफ़ी आग्रह-अनुरोध करनेपर वनराजने स्वीकृति दे दी और बारातवाले रोज़

गाँवमें पहुँचा तो चारों ओर भगदड़ मच गयी। औरतें बच्चोंको चीखता छोड़ भाग खड़ी हुईं। जान बचानेकी आपा-धापीमें कितने ही कुचल गये। ब्राह्मणने सिंहको देखा तो हँसकर बोला, "अरे, इससे क्या डरते हो, यह तो कुत्तेसे भी गया-गुज़रा है।"

सिंह जंगलको उलटे-पाँव लौट गया। पण्डितजीको अब खून मुँह लग चुका था। फिर एक रोज़ वनराजके यहाँ निर्भय पहुँच गये। सिंहने देखा तो बोला, "अब तुम बचकर नहीं जा सकते, मैं तुम्हें अवश्य खाऊँगा।"

ब्राह्मण देवता बहुत सिटपिटाये। अब उन्हें संसार-भोगका चस्का लग चुका था। वे जीना चाहते थे। प्राण-भिक्षाके लिए अनुनय-विनय करने लगे तो सिंह बोला, "एक शर्तपर तुम्हें छोड़ सकता हूँ, और वह यह कि यह कुल्हाड़ी मेरे सिरपर कसकर मारो।"

पण्डितजीने काफ़ी हील-हुज्जत की, परन्तु सिंह अपनी ज़िदपर अड़ा रहा, "या तो मेरा आहार बनो, या मेरे कुल्हाड़ी मारकर धन बटोरकर घर जाओ।"

पण्डितजीने मित्रसे अधिक अपनी जान और धनको तरजीह दी और कुल्हाड़ी उठाकर सिंहके सिरपर इतनी ज़ोरसे मारी कि उसका काफ़ी सिर फट गया और वह मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। पण्डितजी धन बटोर-कर घर आये। दस-पाँच रोज़के बाद लोभ-वृत्तिने फिर उकसाया। "धन तो वहाँ अब क्या खाक होगा, उस रोज़ सब समेट ही लाया था, परन्तु सिंह मर गया होगा, उसकी खाल क्यों छोड़ी जाये? पूजा-पाठमें आसनका काम देगी।"

यथा स्थान पहुँचे तो वनराजको माँदके बाहर खड़े पाया। देखकर प्राण देवता कूच करना ही चाहते थे कि साहस बटोरकर बोले, "वनराज बन्धु, यह देखकर परम प्रसन्नता हुई कि आपके मस्तकका घाव भर गया है और कुल्हाड़ीका चिह्न तक शेष नहीं है।"

"हाँ, मस्तकका घाव तो भर गया, परन्तु हृदयका घाव नहीं भरा और न उसके भरनेकी आशा है।"

"हृदयका घाव कौन-सा बन्धु ?"

"वही कि यह सिंह कुत्तेसे भी गया-गुजरा है। न मैं तुमसे मित्रता करता न कुत्तेसे गया-गुज़रा बनता।"

"मुझे खेद है कि वाणीकी तनिक-सी असावधानीने आपको इतना क्लेश पहुँचाया ?"

"ओछी संगतिका यही फल मिलता है। इसमें तुम्हारा अपराध नहीं। हीरेके दाग़, तलवारके घाव मिट जाते हैं, परन्तु वाणीका घाव कभी नहीं भरता। अच्छा, तुम्हें जो लेना हो, लेकर चलते बनो, आइन्दा भूलकर भी इस ओर न आना।"

४ अक्टूबर १९५५

उनको
दिखने
डाल दे

जागृति,

इ
शब्द ह
पाठकों
दिया
यह भी
सकते
हुए महा
पायेंगे ।

जीवन

इस
की उस
हूं जो उ
पढ़कर
है कि वे
देखकर

नयी साहि

दैनं
को अपनं
के निखा

जैन-सन्देश, मथुरा

श्री गोयलीयजी लेखनीके धनी हैं। उनकी क़लममें जादू है। जो मामूली-सी दिखने वाली बातों और घटनाओंमें जीवन डाल देता है।

जागृति, शिमला

इस पुस्तकका परिचय देते समय कोई भी शब्द हमें मौजूँ नहीं जँचते। दिल करता है पाठकोंके ज्ञानके लिए प्रत्येक कहानीको दुहरा दिया जाय। इस पुस्तककी एक विशेषता यह भी है कि इसको बच्चे बड़े आनन्दसे पढ़ सकते हैं। बच्चोंकी शिक्षा-समस्यामें उलझे हुए महारथी भी इसमें अपनी समस्याका उत्तर पायेंगे।

जीवन साहित्य, दिल्ली

इनमें बहुत-सी कहानियाँ मनुष्यके अन्तर की उस ऊँचाईको पाठकके सामने पेश करती हैं जो उसे सचमुच मनुष्य बनाती हैं। जिनको पढ़कर रोमांच हो आता है और ऐसा लगता है कि देवत्वकी कल्पना ऐसे ही मनुष्योंको देखकर की गई है।

नया साहित्य, दिल्ली

दैनंदिन जीवनमें होनेवाली अनेक घटनाओं को अपनी ज्ञानवर्द्धक प्रेरक और रोचकशैली के निखारमें श्री गोयलीयजीने जो रूप दिया है वह निःसन्देह उनकी लेखन-पटुताका परि-चायक है। थोड़ेमें बहुत समा सकनेकी जो शैली गोयलीयजीकी है वह वास्तवमें उनकी कलाको एक-निखार देती है।

भारतीय ज्ञानपीठ
काशी

उद्देश्य

ज्ञानकी विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्रीका
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक-हितकारी
मौलिक साहित्यका निर्माण

संस्थापक
साहू शान्तिप्रसाद जैन
अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी ५

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

उद्देश्य

ज्ञानकी विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्रीका
अनुसन्धान और प्रकाशन तथा लोक-हितकारी
मौलिक साहित्यका निर्माण

संस्थापक
साहू शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

कवर-मुद्रक : विद्यामंदिर प्रेस (प्राइवेट) लि०, मानमंदिर, वाराणसी

ntiful harvests.

emical
s.
at
o
to



SUMITHION® is an organophosphorous i sec that is surprisingly safe for men, animals, bird fish. Yet it has excellent insecticida ac comparable with parathion. It covers a broad range of the inse control spectrum to protect suc ssfully various crops—including cotton, coffee, cocoa, tea, cereals, rice and vegetables.